ओ३म्

उपनिषदों का तत्त्वज्ञान



[एक समालोचनात्मक दार्शनिक विवेचन]

—डॉ० जयदेव वेदालंकार

"प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में उपनिषद वाक्यों के आलोक में औपनिषद् दर्शन का यथार्थवादी विशद विवेचन किया है। विद्वान् लेखक ने प्रमुख आचार्यों के ब्रह्म, जीव, प्रकृति और मोक्ष सम्बन्धी विचारों की विशद व्याख्या की है एवं आचार्य शंकर, आचार्य रामानुज और महर्षि दयानन्द के दार्शनिक मतों का तुलनात्मक विवेचन करते हुये उन के मतों के साम्य वैषम्य का विवेचन युक्तिपूर्वक एवं प्रमाणों से किया है। यह ग्रन्थ लेखक के विस्तृत अध्ययन का परिचायक है।

लेखक तीनों उक्त दार्शनिक आचार्यों के तुलनात्मक साम्य वैषम्य का प्रतिपादन करने में पूर्णरूपेण सफल रहा है। लेखक की समीक्षात्मक और आलोचन शक्ति की प्रतिभा का प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वत्र दिग्दर्शन होता है।"

—परीक्षक टिप्पणी।

"The philosophical position of Swami Dayananda, who sought to a new interpretation of Vedic philosophy, has not been submitted to critical research so far. This work of Dr. J. D. Vedalankar is a pioneering attempt in this direction. He has taken great pains in collecting the materials of the thesis and in giving detailed expositions of the views of Sankara, Ramanuja and Dayananda. The author of this book is quite at home in the literature upon which he has exercised his mind. He also possesses some literary flair".

—Examiner's Report.


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी........
पु०सं०..1653
भारती पुस्तकालय



ओ३म्

उपनिषदों का तत्त्वज्ञान

भाग – १

मेरठ विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत पी-एच. डी. हेतु

शोध ग्रन्थ

लेखक—

डॉ० जयदेव वेदालंकार

प्रभाकर, साहित्यरत्न, सिद्धान्तभूषण, प्राचीन न्याय आचार्य,
विद्यावाचस्पति एम. ए. (दर्शन + मनोविज्ञान) द्वय पी-एच. डी.

दर्शन विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
एवं
निदेशक (डायरेक्टर) अवैतनिक
प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान (हरिद्वार)

❋

प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान (हरिद्वार)
उत्तर-प्रदेश

प्रकाशक—

प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान हरिद्वार

मुख्य कार्यालय—

9 आर्यवानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर (हरिद्वार)

उ. प्र. पिन – 249407

Head Office—

Oriental Research Institute

9 Aryavanprashtha Ashrama Jwalapur

(Haridwar) U. P. 249407

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

प्रकाशक तथा अलंकार प्रकाशक एवं वितरक

9 आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर (हरिद्वार) उ. प्र. 249407

प्रथम-संस्करण ११०० प्रतियाँ

जुलाई सन् १९८०

आषाढ़ विक्रमी सं० २०३७

मूल्य—पुस्तकालय-संस्करण ३५-०० रुपये

छात्र-संस्करण २५-०० रुपये

मुद्रित—गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी मुद्रणालय, हरिद्वार।



विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

नोट—शोध ग्रन्थ के शेष ४ अध्याय भाग २ में छपेंगे।





समर्पण

जिस गुरुदेव के पवित्र चरण कमलों में बैठ कर वैदिक पीयूष का पान कर पाया; एवं जिस की अपार कृपा पुण्य प्रेरणा से वैदिक वाङ्मय और दर्शन शास्त्र में चञ्चु प्रवेश कर सका, जिस की अनन्यतम अध्यापन शैली से सदा अत्यधिक प्रभावित रहा, जिस के जीवन सारल्य को देख कर वैदिक ऋषियों के जीवन का साक्षात्कार स्वतः हो जाता है, जिस का पवित्र जीवन ऋषिकल्प होने की अनुभूति कराता है, जिस के भव्य व्यक्तित्व और ओजस्वी तथा विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों से सहस्रों मनुष्य अपने जीवन को कृतकृत्य कर चुके हैं।

उसी वेद के उद्भट्ट विद्वान्, भारतीय संस्कृति की साक्षात् मूर्ति, तपस्वी प्रवर, वैदिक साहित्य एवं वैदिक सिद्धान्तों के मर्मज्ञ, बहुविध प्रतिभा के धनी, तार्किक शिरोमणि गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय के पूर्व आचार्य एवं कुलपति, मेरा धर्म, वरुण की नौका वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त, वेदोद्यान के चुने हुए फूल और वेद का राष्ट्रीय गीत के यशस्वी लेखक, पूज्यपाद वेदमार्तण्ड **आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति** के पुनीत चरणों में सादर साभार समर्पित है यह तुच्छ उपायन !

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये'

जयदेव वेदालंकार

❀

आमुख

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में अध्ययन करते हुए दर्शनों के अध्ययन के साथ वैदिक वाङ्मय एवं उपनिषदों का आलोडन-विलोडन करने का भी अवसर मिला, उपनिषद् भाष्यकारों ने प्रायः उपनिषदों की प्रत्ययवादी 'अद्वैतवादी' व्याख्या की हैं। मूल उपनिषदों में जब कि यथार्थवादी विचार धारा की धारा सर्वत्र बह रही है।

भारतीय दर्शन परम्परा में अद्वैत वेदान्त का मिथ्यात्व और वैशेषिक, न्याय और सांख्य दर्शन में यथार्थवाद 'द्वैतवाद' यह दोनों शास्त्रार्थ के विषय रहे हैं। अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व का प्रतिपादन प्रत्ययवादी दार्शनिक स्वयं उसे औपनिषदीय सिद्धान्त बतलाते हैं। परन्तु मूल उपनिषदों का गहन अध्ययन करने से यह सिद्ध नहीं होता है कि संसार केवय भ्रम मात्र है, संसार की वस्तुओं की सत्ता ही केवल यथार्थ नहीं है अपितु संसार की वस्तुओं का उपभोक्ता जोवात्मा, इन दोनों की यथार्थ सत्ता का प्रतिपादन उपनिषदों में मिलता है।

आधुनिक कुछ दार्शनिक पाश्चात्य विद्वान् उपनिषदों को वेदों के विरुद्ध की गई क्रान्ति की संज्ञा देते हैं, परन्तु यह वस्तुः स्थिति के विपरीत मान्यता है। वेदों में ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड का वर्णन है। उपनिषदों में वेदों के ज्ञानकाण्ड की व्याख्या उपलब्ध है। उपनिषदें वेदों को स्पष्ट रूप में प्रमाण मानती हैं। यहअवश्य है कि उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अनुभूति परक ब्रह्म है, जीवात्मा और प्रकृति का वर्णन भी उपनिषदों में व्याख्यातित है।

इस प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं जो इस समय प्रथम अध्याय विषय प्रवेश द्वितीय-अध्याय वेद एवं उपनिषद्; तृतीय अध्याय ब्रह्मनिरूपण और चतुर्थ अध्याय जीवात्मा निरूपण। तीन प्रतिनिधि दार्शनिक आचार्य शंकर आचार्य रामानुज और ऋषि

दयानन्द की समीक्षात्मक दार्शनिक विवेचना सहित छप कर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है।

इस "उपनिषदों का तत्त्वज्ञान" शोध ग्रन्थ पर १६७८ में मेरठ विश्वविद्यालय ने मुझे "डाक्टर ऑफ फिलासाफी" की उपाधि से विभूषित किया है, इस उक्त विश्वविद्यालय का मैं आभारी हूं।

डॉ० वेदप्रकाश गुप्त दर्शन विभाग मेरठ कालेज मेरठ मेरे निर्देशक रहे हैं आप के निर्देशन में यह शोध ग्रन्थ लिखा गया है, आप के विद्वत्तापूर्ण सुझावों ने मुझे सदैव अत्यधिक प्रभावित किया है ऐसे विद्वान का में चिर ऋषि रहूंगा मेरा मस्तक सदा उनके प्रति नत रहेगा।

अन्य विद्वान् आचार्य उदयवीर शास्त्री गाजियाबाद, डॉ० एन० के० देवराज निदेशक हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस, डॉ० चन्द्रधरशर्मा अध्यक्ष दर्शन विभाग जबलपुर 'विश्वविद्यालय' डॉ० जगतप्रकाश आत्रेय अध्यक्ष दर्शन विभाग के० जी० के० कालेज मुरादाबाद प्रो० रत्नसिंह अध्यक्ष दर्शन विभाग एम० एम० एच कालेज गाजियाबाद डा० अभेदानन्द रीडर दर्शन विभाग गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय डॉ० हरिप्रकाश आयुर्वेदालंकार व्यवस्थापक गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, श्री रघुवीरसिंह शास्त्री पूर्व कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय श्री० कविराज योगेन्द्रपाल शास्त्री संचालक कन्या गुरुकुल कनखल, स्वामी ओमानन्द सरस्वती आचार्य गुरुकुल झज्जर हरियाणा, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार दिल्ली, आचार्य प्रियव्रत वेदमार्तण्ड पूर्व कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय श्री जी० बी० के० हूजा कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय इन विद्वानों के प्रति में कृतज्ञता प्रकट करता हूं क्योंकि इन विद्वानों की पुस्तकों एवं सुझावों से मेरा मार्ग प्रदर्शन होता रहा है।

इस शोध ग्रन्थ के प्रकाशन में जिन परिवारों की विशेष प्रेरणा रही है, उनमें श्रीमती सन्तोष रंगन महिला मन्त्री आर्य केन्द्रीय परिषद् हरिद्वार हैं, तथा उनके पति श्री ज्ञानचन्द रंगन पू०प्रधान आर्य

समाज हरिद्वार हैं, यह दम्पति आर्य परिवार वैदिक धर्म के प्रचार एवं प्रसार में हमेशा बढ़ चढ़कर भाग लेते हैं। श्रीमती सन्तोष तो अपने कोकिल कण्ठ से मधुर संगति एवं भजनों से श्रोताओं को को मन्त्र मुग्ध कर देती हैं, इन्हें आर्यसमाज का एक मिशनरी परिवरा कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसी प्रकार श्रीमती प्रमिला हैदराबाद जो योग और आध्यात्मिकता में विशेष रुचि रखती हैं। इन उक्त दोनों परिवारो का मैं हृदय से आभारी हूं। इसी प्रकार श्रीमती सावित्री शर्मा वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर जो धर्म निष्ठ महिला है इनका भी हृदय से आभारी हूँ।

इसके साथ अपनी विदुषी पत्नी आचार्या श्रीमती सुषमा स्नातिका एम० ए० 'संस्कृत + हिन्दी' जो कि सामाजिक कार्यों में कन्धे से कन्धा मिलाकर सदैव मेरा सहयोग करती हैं एवं सिद्धान्त सम्बन्धी समस्या आने पर अपने अमूल्य सुझावों से आप्लावित करती हैं, उनका धन्यवाद किये बिना यह ग्रन्थ अधूरा रहेगा अतः उनका भी हृदय से आभार प्रदर्षित करता हूँ।

अन्त में उन सभी ग्रन्थ ऐवं ग्रन्थाकारों के प्रति आभारी हूँ जिन से प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में सहायता मिली है।

विदुषां वंशवदः
जयदेव वेदालंकार
२१-६-८०

—०❀०—

ओ३म्

भूमिका

जब हम होश संभालते हैं और कुछ सोचने-समझने की क्षमता प्राप्त करते हैं तभी से हमारे चारों ओर विस्तृत फैले हुए विश्व-प्रपंच को देख कर हमारे मन में जिज्ञासा उत्पन्न होने लगती है कि दीख रहा यह सब प्रपंच कहां से आ गया है, कहां से उत्पन्न हो गया है। यह उदय और अस्त होता हुआ सूर्य और उसकी संन्ध्याओं की अपूर्व छटा, ये रात को नभोमण्डल में दिखने वाले तारे और आकाश गंगा और उन के मध्य में विराजमान अपनी ज्योत्स्ना से धरती को दुग्ध-धवल कर देने वाला चन्द्रमा, ये आकाश में छा-जाने वाली मेघ-मालायें और उन में चमकने वाली बिजलियां और उन से गिरने वाली जल-धारायें तथा ओला वृष्टियां, ये गगनचुम्बी पर्वत श्रेणियां और उन पर छाई असीम हिम-राशियां और उन की विस्तीर्ण वनराजियां, ये भांति-भांति की वृक्ष-वनस्पतियां, लतायें और विविध मनमोहक रंगों से रंजित असंख्य प्रकार की पुष्प-पंक्तियां,हमारे खेतों में उगने वाली भांति-भांति की ये अन्न-ओषधियां और हमारे उद्यानों में उत्पन्न होने वाले ये भांति-भांति के रसीले और स्वादिष्ट फल, ये भांति-भांति के पशु-पक्षी और कीट पतंग – ये सब कहां से आ गये ? और स्वयं यह मनुष्य जो अपने को धरती का राजा और विश्व के सब पदार्थों का स्वामी मानता है; वह ही कहाँ से आ गया? जब हम अपने चारों ओर दूर-दूर तक, दूर से भी दूर-दूर तक, फैले हुए इस विश्व-ब्रह्माण्ड को देखते हैं तो हमारे मन में स्वभावतः इस प्रकार के प्रश्न उठने लगते हैं। मानवसृष्टि के आरम्भ से उस के मन में इस प्रकार के प्रश्न उठते रहे हैं और वह जगत् की इस पहेली को समझने और सुलझाने की कोशिश करता रहा है। इस पहेली को सुलझाने के लिए जो विचार और चिन्तन किया जाता है उसी को "दर्शन" कहा जाता है।[1] दर्शन में जगत्

१. दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम्।

के मूल कारण को खोजने और उसे समझाने का प्रयत्न किया जाता है।

भारत और अन्य देशों के विचारकों और दार्शनिकों ने जगत् पहेली को सुलझाने के लिए इस विश्व के मूल कारण की खोज में जो सिद्धान्त तै किये हैं उन्हें चार श्रेणियों में बांटा जा सकता है–

१. जड़ कारण-वाद।
२. चेतन कारण-वाद।
३. यथास्थितिवाद।
४. उभयकारणवाद (जड़चेतनोभयकारणवाद)।

१. जड़-कारणवाद में विश्व के सारे प्रपंच का अन्तिम कारण जड़ प्रकृति को ही माना जाता है। भारत में इस मत को मानने वाले चार्वाक लोग रहे हैं। योरोप के मैटीरियलिस्ट अर्थात् प्रकृति-वादी लोग भी ऐसा ही मानते हैं। इन लोगों के अनुसार जगत् के समग्र प्रपंच का मूल कारण एकमात्र प्रकृति या मैटर (Matter) ही है। प्रकृति के अतिसूक्ष्म परमाणुओं या ऐटम्स् (Atoms) में विद्यमान स्वाभाविक गति के कारण उन के विभिन्न प्रकार के संयोग-विभागों द्वारा संसार के विभिन्न पदार्थ स्वयं ही बनते रहते हैं। प्रकृति के जड़ परमाणुओं के अतिरिक्त जगत् का कोई चेतन कारण नहीं है। इस मत के अनुसार जगत्-रचना के लिए किसी ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस मत के अनुसार आत्मा या जीव को मानने की भी आवश्यकता नहीं है। जिसे हम जीव कहते हैं वह वस्तुतः कोई स्वतन्त्र सत्ता रखने वाला पदार्थ नहीं है। वह तो प्रकृति के ही परमाणुओं के एक विशेष प्रकार के अनुपात में मिलने से होने वाली एक प्रतीतिमात्र है। जैसे कि प्रकृति के परमाणुओं के विभिन्न अनुपातों (Proportions) में मिलने से पदार्थों में विभिन्न प्रकार के रंग उत्पन्न होते रहते हैं उसी प्रकार परमाणुओं के एक विशेष प्रकार के अनुपात में मिलने पर प्राणियों के शरीरों में चेतना का गुण पैदा हो जाता है। जड़-कारणवाद या प्रकृति कारणवाद का यह सिद्धान्त गम्भीर विचार

या तर्क के आगे खड़ा नहीं रहता। दूसरे मतों को मानने वाले दार्शनिकों ने प्रबल युक्तियों के इस मत का खण्डन किया है।

२. चेतन कारणवादी दार्शनिक लोग जगत् के प्रपंच की व्याख्या केवल चेतन तत्त्व को मूल कारण मान कर करते हैं। चेतनकारणवादियों के अनेक भेद हैं। ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्ती लोग केवल ब्रह्म की सत्ताको ही स्वीकार करते हैं। ये लोग जगत् के प्राकृतिक पदार्थों की पारमार्थिक या वास्तविक सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। इन की वो .केवल व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करते हैं जिस से ये लोग जीव की सत्ता को भी पारमार्थिक या वास्तविक नहीं मानते। उसे भी व्यावहारिक और अविद्या या भ्रमजनित ही मानते हैं। इन के अनुसार यह सारा विश्वप्रपंच वस्तुतः कुछ है ही नहीं। यह सब कुछ भ्रम है – स्वप्न है। पारमार्थिक या वास्तविक सत्ता केवल ब्रह्म की है। चेतन कारणवादियों का एक सम्प्रदाय ब्रह्म या परमेश्वर की सत्ता को भी स्वीकार न ही करता और प्रकृति और उस के परमाणुओं से बने किसी प्राकृतिक पदार्थ की वास्तविक सत्ता को भी स्वीकार नहीं करता। ये लोग केवल मन और उस की सतत-प्रकटमान चेतना-धारा (Stream of Consciousness) को स्वीकार करते हैं। इन के अनुसार कोई स्थिर मन या जीव भी नहीं है। इन के अनुसार किसी क्षण का हमारा जो विचार है वही हमारा मन या जीव है। क्षण-क्षण में नये मन बनते रहते हैं। क्षण-क्षण में नये बनते रहने पर भी इन में एक प्रकार की वासना के कारण एकता की प्रतीति होती है जिस के कारण हम वही हैं ऐसा हमें अनुभव होता रहता है। क्षण-क्षण में उत्पन्न होता रहने वाला हमारा मन या ज्ञान जो-जो आकार ग्रहण करता रहता है उसी के आधार पर हमें विभिन्न पदार्थों की प्रतीति है। वस्तुतः मन या ज्ञान से बाहर किसी वास्तविक पदार्थ की सत्ता नहीं है। भारत में बौद्ध दार्शनिकों की ऐसी मान्यता है। योरोप में ह्यूम (Hume)

आदि दार्शनिकों की इस प्रकार की मान्यता है। इन के अवान्तर भेद भी अनेक हैं। उस सारे विस्तार में जाने की यहां आवश्यकता नहीं है। एक दूसरे प्रकार के चेतनकारणवादी ईसाई और मुसलमान लोग हैं। ये लोग ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं और उसे ही जगत् का मूल कारण मानते हैं। कोई नित्य प्रकृति और जीव जगत् के मूल कारण नहीं हैं। परमात्मा बिना प्रकृति के ही अपनी इच्छामात्र से जगत् के पदार्थों की रचना कर देता है। वह अपने सामर्थ्य से अभाव से ही जगत् के दिखाई देने वाले भाव पदार्थों की रचना कर देता है। इन के मत में जीवात्मा भी नित्य नहीं है। उन्हें भी ईश्वर ही उत्पन्न करता है और अभाव से भाव में ला देता है। प्रत्येक मनुष्य का जीवात्मा उस के जन्म के समय ईश्वर द्वारा नया उत्पन्न किया गया होता है। ये सभी प्रकार के चेतन-कारण वाद भी गम्भीर विचार और तर्क के आगे नहीं ठहरते हैं। दूसरे दार्शनिकों ने प्रबल युक्तियों से इन मतों का खण्डन किया हैं।

३. एक प्रकार के दार्शनिक यह मानते हैं कि यह सारा जगत् जैसा दिखाई देता है वैसा ही सदा से चला आरहा है। यह न कभी बना है और न ही किसी ने इसे बनाया है। इन के अनुसार जगत् का रचयिता कोई ईश्वर नहीं है। ये लोग प्राकृतिक जगत् और उस में रहने वाले जीवात्माओं की सत्ता को स्वीकार करते हैं। भारत के मीमांसक लोग और जैन लोग इसी मत को मानने वाले हैं। इन के मत का भी दूसरे दार्शनिकों ने प्रबल युक्तियों से खण्डन किया है।

४. उभयकारणवादी दार्शनिकों को मान्यता ऊपर निर्देश तीनों प्रकार के दार्शनिकों से भिन्न प्रकार की है। ये लोग किसी एक पदार्थ को जगत् का मूल कारण स्वीकार करने से जगत् की पहेली सुलझ सकती है ऐसा नहीं मानते। इनके अनुसार तीन मूल तत्त्वों को जगत् का कारण मानकर ही जगत् प्रपंच पहेली का समाधान हो सकता है। जगत् में जितने स्थूल भौतिक पदार्थ दिखाई देते है उनका उपादान कारण या सामग्री प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं के

विभिन्न संयोग विभागों के द्वारा परमात्मा इन स्थूल भौतिक पदार्थों का निर्माण करता है, परमात्मा निमित्त कारण है। निमित्त कारण परमात्मा उपादान कारण प्रकृत्ति के परमाणुओं से जगत् के पदार्थों की रचना करते हैं। और जगत् की यह रचना परमात्मा द्वारा जीवात्माओं को उनके शुभाशुभ कर्मों का फलभोग कराने के लिए की जाती है। अपने कर्मों का फल भोगने वाले जीवात्मा जगत् का साधारण कारण है। जगत् रचना में देश काल आदि कुछ अन्य पदार्थ भी साधारण कारण में आते हैं। किसी भी रचना के लिए इन तीन कारणों का होना आवश्यक है। यदि घड़ा बनाने का ज्ञान रखने वाला कुम्भकार न हो तो भी घड़ा नहीं बन सकता। यदि मिट्टी न हो तो भी घड़ा नहीं बन सकता। और यदि कुम्कार के बनाये घड़े को लेने वाला कोई अन्य व्यक्ति न हो तो भी घड़ा नहीं बन सकता। चेतन कुम्भकार के बनाये घड़े का उपयोग लेने वाले लोग साधारण कारण हैं। देश-काल आदि भी घड़ा बनने में साधारण कारण हैं। इसी भांति इस विश्व ब्रह्माण्ड के विभिन्न पदार्थों के बनने के लिए भी इन तीनों कारणों की आवश्यकता है। जगत् के पदार्थों की रचना का ज्ञान रखने वाला चेतन परमात्मा जगत् का निमित्र कारण(Efficient Cause) है। जगत् के पदार्थों की निर्माण सामग्री के रूप में प्रकृनि जगत् की उपादान कारण(Material Cause)है। तथा जगत् में रहकर अपने कर्मों का फल भोगने वाले जीवात्मा उसके स घारण कारण(Neutral Cause) है। देश-काल आदि तो साधारण कारण हैं ही। अपने छोटे और सीमित क्षेत्र में जीवात्मा भी कुछ चीजों की रचना करता रहता है। इस अवस्था में वह भी निमित्त कारण हो जाता है। जब जीवात्मा अपने सीमित क्षेत्र में निमित्त कारण बनता है तब उसे जिस उपादान सामग्री की आवश्यकता होती है तो वह जीवात्मा भी परमात्मा द्वारा प्रकृति से बनाये गये पदार्थों को ही उपादान कारण के रूप में प्रयुक्त करता है।

इस उभय कारणवाद को मानने वाले लोग जगत् के भौतिक

पदार्थों को सत्य और वास्तविक मानते है, इन्हें मिथ्या और अविद्या एवं भय से जनित स्वप्नरूप नहीं मानते। उनकी परमार्थ सत्ता स्वीकार करते हैं और इनके उपादान कारण प्रकृति की सत्ता को भी परमार्थ रूप से स्वीकार करते है। जीवात्मा भी सत्य वास्तविक और परमार्थ रूप से अपनी सत्ता रखता है। जगत् का रचयिता और निमित्त कारण परमात्मा भी परमार्थ सत्य है। वह ज्ञानवान् है। और जगत् का कर्ता, धर्ता और नियन्ता है। वह कभी भी अविद्या या माया से उपहित या आच्छादित नहीं होता। वह सदैव सत् चित् और आनन्द है। उसमें और भी अनेक गुण है। उसीका अपना एक विशिष्ट प्रकार का व्यक्तित्व है।

भारतीय आर्य चिन्तना में उपनिषदों का बहुत ऊंचा स्थान है। उपनिषदें आर्यों की अध्यात्मिक चिन्तना के महान् स्रोत हैं। समझा जाता कि ब्रह्मद्वैतवाद का सिद्धान्त उपनिषदों से ही प्रवाहित होता है। आचार्य शंकर ने उपनिषदों पर जो भाष्य लिखा है वह इसी धारणा का पोषक है। आचार्य शंकर से अपने भाष्य में ब्रह्माद्वैत वाद का ही प्रतिपादन किया है। प्रो० जयदेव वेदालंकार के प्रस्तुत ग्रन्थ "उपनिषदों का तत्त्वज्ञान में उपनिषदों का ही अध्ययन किया गया। अपने इस अध्ययन में डा० जयदेव ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि उनको दृष्टि में उपनिषदों का सही तत्त्वज्ञान अथवा दर्शन क्या है, दूसरे शब्दों में उपनिषदें विश्व-प्रपंच की व्याख्या किस प्रकार करती है, जगत् के कारणभूत मूलतत्वों के सम्बन्ध में उपनिषदों की उनकी दृष्टि में क्या कारण है इस का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में प्रो० जयदेव ने किया है।

उपनिषदों के बारे में एक यह जो धारणा या अन्य विद्वानों द्वारा प्रचरित की गई है कि वेद तो कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं और उपनषदें उनकी प्रतिक्रिया रूप में लिखी गई हैं, उसका भी निराकरण प्रो०जयदेव ने अपने शोध ग्रन्थ में किया है और वेदों के प्रचुर प्रमाण देकर दिखाया है कि स्वयं वेदों में अध्यात्म विद्या सम्बन्धी विस्तृत

प्रकरण हैं और उन्हीं के मन्त्रों की व्याख्या उपनिषदों में अपने विशिष्ट ढ़ंग से की गई है।

प्रो० जयदेव की मान्यता है कि यह भी साधारण तौर पर यह समझा जाता है कि उपनिषदें ब्रह्माद्वैतवाद की समर्थक है, पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः उपनिषदें जगत् की व्याख्या के रूप में जड़–चेतनोभय कारणवाद का प्रतिपादन करती हैं जिस का नाम डा० जयदेव ने यथार्थवाद रखा है। उपनिषदें चेतन कारणवाद को भी स्वीकार नहीं करती जिसको प्रो० जयदेव ने प्रत्ययवाद कहा है। और वे केवल जड़कारणवाद की भी स्वीकार नहीं करती। विद्वान् लेखक ने यथेष्ट प्रमाण देकर दिखाया है कि है कि मूल वेद-संहिताये उभयकारणवादी [यथार्थवादी] हैं। फिर के प्रचुर प्रमाण देकर दिखाया है कि उपनिषदें संहिताओं का अनुकरण करती है और उन्हीं के अनुसार वे भी उभयकारणवादी हैं–यथार्थवादी हैं। प्रो० जयदेव का यथार्थवाद से तात्पर्य यह है कि जगत् में दीख रहे स्थूल भौतिक पदार्थों की वास्तविक सत्ता है, उनकी उपादान प्रकृति की भी वास्तविक सत्ता है–वे मिथ्या भी नहीं हैं भ्रममात्र नहीं है। जगत् के निमित्तकारण चेतन परमात्मा की भी वास्तविक सत्ता हैं और वह कर्तृत्व, ज्ञातृत्व धर्तृत्वआदि गुणों वाला एक विशिष्ट प्रकार का व्यक्तित्व रखने वाली सत्ता है। ईश्वर, परमात्मा और ब्रह्म उसी चेतन सत्ता के नाम है। उसमें सृष्टि रचना आदि के महान् गुण हैं, वह शुद्ध पवित्र है सत्, चित् और आनन्द है, उसमें दया और नियन्तृत्व आदि के अनेक गुण है इस दृष्टि से वह सगुण है। क्योंकि उसमें असत्य और अपवित्रता आदि के अवगुण नही है इस लिए वह निर्गुण भी है। अद्वैतवादियों वाली अविद्या या माया कल्पित सगुणता को प्रो० जयदेव ब्रह्म में स्वीकार नहीं करते। जीवों की सत्ता भी पारमार्थिक या वास्तविक है। जीव अनादि काल से ब्रह्म और प्रकृति की भांति ही अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं और अनन्त काल तक अपनी स्वतंत्र रखेगें। जीव को ईश्वर ने बनाया नहीं है और न ही वह ब्रह्म में

लगी अविद्या या माया का परिणाम है और भ्रम मात्र है। जीव चेतन है और कार्य करने में स्वतन्त्र हैं। कर्मों का फल भोगने में वह परतन्त्र है। परमात्मा के शासन और व्यवस्था में बंधा हुआ वह परमात्मा द्वारा उसके कर्मों का भोग कराने के लिए प्रकृति से बनाए गये इस संसार में अपने शुभाशुभ कर्मों का सुख और दुःख के रूप में फल भोगता रहता है। इस प्रकार यथार्थ स्थिति यह है कि इस दृश्यमान विश्व प्रपंच के मूल कारण तीन हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीनों अनादि काल से विद्यमान हैं और अनन्त काल तक विद्यमान रहेगें। ये सदा से हैं और सदा रहेगें। इन का कभी विनाश नहीं होता। प्रकृति भी परमाणुओं के रूप में सदा विद्यमान रहती है। परमात्मा के कर्तृत्व में—और सीमित क्षेत्र में जीवों के कर्तृत्व में भी—केवल प्रकृति से बने स्थूल पदार्थों के आकार में ही परिवर्तन होता रहता है। जगत् की इस यथार्थ स्थिति को ध्यान में रखकर ही प्रो० जयदेव ने अपने प्रतिपादन विषय का नाम यथार्थ वाद रखा है। पाश्चात्यदर्शन में जिस अर्थ में यथार्थवाद (Realism) शब्द का प्रयोग होता है उस अर्थ में प्रो० जयदेव ने इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है।

इस युग के महान् विचारक महर्षि दयानन्द एक प्रथम यथार्थ वादी दार्शनिक ही थे। उन्होंने भी जगत्-प्रपंच की व्याख्या ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन मूल कारणों के आधार पर ही की है। महर्षि दयानन्द जी की भी मान्यता है कि मूल वेद संहितायें और उपनिषदें भी यथार्थवाद का ही प्रतिपादन करती हैं और इसी परमार्थ सत्य तीन सत्ताओं को जगत् का मूल कारण मानती है। ऋषि दयानन्द ने अपनी मान्यता के समर्थन में वेद-संहिताओं और उपनिषदों के यथेष्ट प्रमाण दिये है। प्रो० जयदेव ने ऋषि दयानन्द के विचारों से संकेत लेकर उपनिषदों का बहुत गहरा और व्यापक अध्ययन किया है। उन्होंने अपने अध्ययन में पहले तो यह दिखाया है कि मूल वेद-संहितायें जगत् का मूल कारण ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन नित्य और परमार्थ सत्य सत्ताओं को ही स्वीकार

करती है। फिर दिखाया है कि उपनिषदें वेदों का ही अनुकरण करती है। और इन्हीं तीन परमार्थ सत्य सत्ताओं को जगत् का मूल कारण मानती हैं। इसके लिए प्रो० जयदेव ने उपनिषदों के प्रचुर प्रमाण दिये है और बताया है कि उपनिषदें अनेक स्थानों पर सीधा वेद-मंत्रों को उध्दृत करके अपनी बात कहती है जिन मंत्रों में यथार्थ-वाद अथवा त्रैतवाद का ही प्रतिपादन किया होता है।

प्रसंग से प्रो० जयदेव ने अपने ग्रन्थ में आचार्य शंकर के ब्रह्माद्वैत की भी बड़ी विस्तृत समीक्षा की है और इस वाद की दार्शनिक विसंगतियों को दिखाते हुये दिखाया है कि उपनिषदें ब्रह्माद्वैत की समर्थक नहीं है। इसी प्रसंग में विद्वान् लेखक ने आचार्य रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद की भी विस्तृत समीक्षा की है जिसमें ब्रह्म, जीव और भौतिक जगत् की परस्पर भिन्नता भी स्वीकार की जाती है और अभिन्नता भी स्वीकार की जाती है, और इस सिद्धान्त की दार्शनिक विसंगतियां भी भली भांति दिखाई गई हैं। आचार्य शंकर के चेतन कारण वाद या प्रत्ययवाद (Idealism) की समीक्षा करते हुए विद्वान् लेखक ने प्रसंग से कई दार्शनिकों और उनके प्रत्ययवाद की भी समीक्षा की है और उसे भी दार्शनिक रूप में अस्वीकार पाया है।

यह दिखा कर कि उपनिषदें यथार्थवादी अर्थात् त्रैतवादी दर्शन का निरूपण करती हैं प्रबुद्ध लेखक ने उपनिषदों के आधार पर ईश्वर, जीव और प्रकृति के पृथक्-पृथक् स्वरूप का भी बड़ा सुन्दर निरूपण किया है। लेखक के इस योग्यतापूर्ण विवेचन से जगत् के इन तीन मूल कारणों के स्वरूप के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द की जो मान्यता हैं उस का पूर्ण समर्थन होता है।

ऊपर जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमने जिन चार वादों का उल्लेख किया है ग्रन्थ में उन सभी की विज्ञ लेखक ने प्रसंगानुसार विद्वत्तापूर्ण समीक्षा की है और उन में से चौथे जड़चेतनोभय-कारणवाद को ही जगत्-प्रपंच की भली-भांति व्याख्या करने में समर्थ पाया है। और इस प्रकार यह प्रतिपादन किया है कि उप-

निषदें जिस तत्त्वज्ञान का निरूपण करती हैं वह वस्तुतः यथार्थवादी या त्रैतवादी हैं। यह दूसरी बात है कि उपनिषदें मानव के त्रिविध ताप का उपशमन करने के लिए ब्रह्मसाक्षात् को महौषध के रूप में उपस्थित करती हैं और इस के लिए ब्रह्म की महिमा और गुणों के वर्णन पर ही अत्यधिक बल देती हैं। और पाठक के मन में ब्रह्म या परमात्मा की भावात्मक अनुभूति उत्पन्न करना चाहती हैं, इस रहस्य की ओर ध्यान न देने के कारण ही कुछ लोग समझने लगते हैं कि उपनिषदें ब्रह्माद्वैत की समर्थक हैं। वस्तुतः ऐसा नहीं है।

विद्वान लेखक ने अनेक स्थलों पर नये तर्कों एवं युक्तियों का भी प्रदर्शन किया है। लेखक का यह शोध ग्रन्थ हिन्दी साहित्य में एक अनुपम कृति सिद्ध होगी।

अभी ग्रन्थ के प्रथम चार अध्याय ही पाठकों के आगे मुद्रित रूप में आ रहे हैं। यह शोध ग्रन्थ एक योग्यतापूर्वक लिखा गया पढ़ने योग्य ग्रन्थ है। मेरा विश्वास है कि जो पाठक इस ग्रन्थ को पढ़ेंगे वे प्रो० जयदेव के विचारों से अवश्य प्रभावित होंगे।

मैं गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक और दर्शन विभाग के उपाध्याय तथा अपने प्रिय शिष्य प्रो. जयदेव को यह विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखने पर हार्दिक बधाई देता हूँ और आशा करता हूं कि उन की लेखनी से भविष्य में इस प्रकार के और भी अनेक ग्रन्थ प्रसूत होंगे।

वेदमार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति
पूर्व आचार्य एवं कुलपति,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
१६. ४. ८०

उपनिषदों का तत्त्वज्ञान

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

उपनिषद् शब्द का निर्वचन

उपनिषद् शब्द का अर्थ और निर्वचन करते हुए उस के धात्वर्थ पर ध्यान देना होगा। उप तथा नि उपसर्ग पूर्वक षदलृ (पद) धातु से क्विप् प्रत्यय का योग करने से उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है। षदलृ धातु तीन अर्थों "षदलृ (सद) विशरणगत्यवसादनेषु" में प्रयुक्त होता है। १–विशरण तथा अर्थात् नाश होना। २–गति अर्थात् प्राप्त होना, गतेस्त्रयो अर्थाः ज्ञानं, गमनं, प्राप्तिश्च। ३–अवसादन अर्थात् शिथिल करना। षद धातु के साथ आदि में उप और नि उपसर्गों का प्रयोग कर के अन्त में क्विप् प्रत्यय का योग किया जाता है। अर्थात् दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं–उप–नि–सद–क्विप्=उपनिषद्। इस प्रकार उपनिषद् शब्द की सिद्धि के अनन्तर उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति अथवा निर्वचन निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। "उप–ब्रह्मासामीप्यम् नि निश्चयेन सीदति प्राप्नोति यया सा उपनिषद्।"

अर्थात् जिस के द्वारा ब्रह्म का सामीप्य या समीपता (नि) निश्चित रूपेण प्राप्त हो उसे उपनिषद् कहा जा सकता है। ब्रह्म की समीपता अथवा ब्रह्म के सामीप्य की प्राप्ति अथवा ब्रह्म की प्राप्ति का एकमात्र साधन ब्रह्मविद्या अथवा ब्रह्मज्ञान ही है। इस को अधिक स्पष्ट रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस विद्या अथवा ज्ञान के द्वारा ब्रह्म का सामीप्य अथवा साक्षात्कार प्राप्त हो वह विद्या एवं ज्ञान ही उपनिषद् है। इस को हम एक शब्द में ब्रह्मविद्या एवं ब्रह्मज्ञान कह सकते हैं। इस विद्या अथवा

ज्ञान का प्रतिपादक होने के कारण इस ग्रन्थ का नाम भी उपनिषद् रखा गया प्रतीत होता है।

समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का आदि कारण ब्रह्म है जैसा कि वेदान्त दर्शन में स्पष्ट कहा गया है कि जिस के द्वारा इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का जन्म, स्थिति, प्रलय होता है उसी का नाम ब्रह्म है।[1] यह ब्रह्म ही उपनिषदों में उपास्य देव स्वीकार किया गया है। इस से यह भी सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या अथवा ब्रह्मज्ञान तथा अध्यात्मविद्या या अध्यात्मज्ञान का वर्णन करना ही उपनिषदों का प्रधान विषय है।

षदलृ (सद) धातु के उपयुक्त तीनों अर्थों में से हमने अभी केवल गति, प्राप्त करना ही यहां प्रतिपादित किया है। शेष दो अर्थों की संगति इस प्रकार है। अर्थ है "विशरण" अर्थात् नाश होना। ब्रह्म की समीपता को प्राप्त कर लेने से अविद्या अर्थात् अज्ञान का नाश हो जाता है और फिर इस तरह अवसादन अर्थात् शिथिल होना – अर्थात् जन्म और मृत्यु का बन्धन शिथिल पड़ जाता है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मविद्या अथवा ब्रह्मज्ञान के द्वारा सर्वप्रथम अज्ञान का विनाश होने के पश्चात् उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होता है और इस समीपता की उपलब्धि से जन्म और मृत्यु का बन्धन शिथिल पड़ जाता है ऐसे जिज्ञासु पुरुष का जिसने उपनिषदों का अध्ययन कर ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर लिया है, अज्ञान विनष्ट हो जाता है अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा मिल जाता है। जैसा कि कठोपनिषद् में आया है कि–"हृदय की सब ग्रन्थियाँ नष्ट हो कर सब प्रकार का अज्ञान भी विदीर्ण हो जाता है।[2]

---

१. जन्माद्यस्ययतः–वेदान्त दर्शन – १-१-२ ॥

२. कठोपनिषद् (भिद्यते हृदयःग्रन्थिः छिदन्ते सर्वंशंशयाः) ॥

"उप–नि–सद" का अर्थ बैठना भी होता है इस का अभिप्राय यही होता है कि "गुरु के समीप शिष्य का शिक्षाग्रहणार्थ समीप बैठना" परन्तु शिक्षा ग्रहण का अभिप्राय साधारण शिक्षा से नहीं है अपितु अध्यात्मशिक्षा अथवा ब्रह्मविद्या की शिक्षा से है। प्राचीन काल में सभवत: इस का यही अर्थ लिया जाता रहा होगा किन्तु जिस का भाव यही हो सकता है कि ब्रह्म की प्राप्ति के लिये जिन साधनों का वर्णन उपनिषदों में उपलब्ध है उन्हीं साधनों को सीखने के लिये गुरु के समीप बैठ कर सीखने का प्रयास करना जैसा कि प्रश्नोपनिषद् से स्पष्ट है कि ऋषियों के पास जा कर जिज्ञासुओं ने प्रश्न किए उन का उत्तर ही प्रश्नोपनिषद् में है। यह प्रश्न और उत्तर कठ, छान्दोग्य, बृहदारण्यकादि उपनिषदों में भी मिलते हैं।

उपनिषद् शब्द का अर्थ रहस्यमय सिद्धान्त अर्थात् गुह्यविद्या भी किया जाता है क्योंकि उपनिषदों में "इति रहस्यम्" "इति उपनिषदम्" शब्द अनेक स्थलों पर उपलब्ध होते हैं जिन से ज्ञात होता है कि रहस्य भी उपनिषद् का पर्यायवाची शब्द है वस्तुत: उपनिषदों में ब्रह्म जीव एवं जगत् आदि का वर्णन नितान्त रहस्यमय है। आधुनिक युग में भी जिस रहस्यवाद की चर्चा साहित्यिक क्षेत्र में चलती है वह रहस्यवाद भी आत्मा परमात्मा एवं जगत आदि के वर्णन से ही सम्बन्धित माना जाता है। इसलिए यदि रहस्य शब्द का प्रयोग उपनिषद् के स्थान पर प्रयुक्त किया हो तो कोई आश्चर्य की बात प्रतीत नहीं होगी। आश्चर्य शंकर के मत में उपनिषद शब्द का अर्थ इस प्रकार है–विशरण, गति और अवसादन अर्थ वाले उप-नि उपसर्ग पूर्वक सद धातु से क्विप् प्रत्यय के योग से उपनिषद् शब्द निष्पन्न हुआ है। उपनिषदों का प्रतिपाद्य और जिज्ञासित वस्तु ब्रह्म ही है अत: ब्रह्म सम्बन्धी विद्या का नाम उपनिषद् हुआ या ब्रह्मविद्या ही मुमुक्षु लोगों को ब्रह्म की प्राप्ति कराती है अत: ब्रह्मविद्या ही उपनिषद् है। इस ब्रह्मविद्या का प्रतिपादक होने के कारण ग्रंथ का नाम भी उपनिषद् है जैसे आयु

को बढ़ाने वाला होने से घृत ही आयु कहा जाता है उसी प्रकार तत् (उस ब्रह्मविद्या का) प्रतिपादक होने से ग्रन्थ का नाम उपनिषद् पड़ गया है। अतः ब्रह्मविद्या ही उपनिषद् का मुख्यार्थ है और ग्रंथ के रूप में गौण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[1]

इसी प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् के भाष्य के प्रारम्भ में ही लिखा है कि अपना सेवन करने वालों पुरुष के गर्भ, जन्म, नराक्षि का उच्छेदन करने, उन का अवसादन करने अथवा नाश करने के कारण, उपनिषद् का अर्थ विद्या ही है। वह ब्रह्म के समीप ले जाने वाली होने के कारण अथवा उस में परम श्रेय ब्रह्म उपस्थित है इसलिये विद्या ही उपनिषद् है उस विद्या का प्रतिपादक होने के कारण ग्रन्थ का नाम भी उपनिषद् है।[2]

उपनिषद् शब्द का निर्वचन प्रायः इन्हीं उपर्युक्त अर्थों को लेकर किया जाता है। उपनिषद् शब्द के निर्वचन के बारे में कुछ श्लोक परम्परा से उपलब्ध हैं ,जिन का भाव भी यही है कि जन्म और मृत्यु तथा संसार के बन्धन का अथवा अज्ञान का उच्छेद जिस विद्या से होता है उसी का नाम उच्छेद जिस विद्या से होता है उसी का नाम उपनिषद् है।[3]

---

१. "सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्य उपनिपूर्वस्य क्विप् प्रत्ययान्तस्य रूपमिदम् उपनिषत्" इति – मुमूक्षून वा परब्रह्मं गमयति – ब्रह्मप्राप्तोविरब्रो – भूद्विमृत्युः (कठ २-३-१८) – अविद्यादिसंहार हेतुः विशरणादे– "आयुर्घृतम्" इत्यापिवत् (कठोपनिषद आचार्य शंकर का भाष्य द्रष्टव्य) ॥

२. उपनिषदिति विद्योच्यतेः, तच्छोलिना गर्भजन्मजरादि निशातनात्तदवसादनादवा ब्रह्मणो वोपनिगमति तृत्वादुपनिषण्ण वास्यां परम क्षेय इति। तदर्थत्वात्ग्रंथो उप्युपनिषदै।

३. उपनीय तमत्मानं ब्रह्मामास्तद्वयं यतः।
निहन्त्यविद्यां तज्जंचतस्मादुपनिषद् भवेत् ॥

वैदिक साहित्य में उपनिषदों का स्थान सब से अन्त में है जैसा कि डा० भीखन लाल आत्रेय कहते हैं कि "वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग उपनिषद् कहलाता है। अत एव इस को वेदान्त (वेदों का अन्त) आखिरी बात, यह साहित्य दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।[1]"

डा० राधाकृष्णन् की मान्यता भी यही है कि "उपनिषदें वेदों के अन्तिम भाग हैं इसलिए इन्हें वेद, अन्त की संज्ञा की गई है जिस से यह ध्वनित होता है कि वैदिक शिक्षाओं का सार इनमें है। उपनिषदें नींव के रूप में हैं जिन के ऊपर बहुत से भारतीय दर्शन-शास्त्र और धार्मिक सम्प्रदायों के भवन खड़े हैं।[2]

कुछ विद्वान् उपनिषदों को वेद की तरह ही अन्त भाग मानते हैं परन्तु महर्षि दयानन्द जी चार मूल संहिताओं को ही वेद सज्ञा देते हैं। ब्राह्मणग्रंथ और उपनिषदों को ऋषि कृत मानते हैं।[3]

ब्राह्मणों में वैदिक मन्त्रों की प्रतीकें रख-रख कर के उन की व्याख्या का प्रयास किया गया प्रतीत होता है जैसे शतपथ ब्राह्मण

निहन्त्यनर्थमूलं स्वाविद्या प्रत्यक्तया परम् ।
नयत्यपास्तसंभेदमतोवोपनिषद् भवेत् ॥
प्रवृतिहेतूनिः शेषांस्तन्मूलोच्छेदक त्वतः ।
यतोऽवसादयेद्विधा तस्मादुपनिषद्भवेत् ॥

१. भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास – प्रकाशक हिन्दी समिति–सूचना विभाग उत्तर प्रदेश लखनऊ – सन् १९६४ प्रथम संस्करण – पृष्ठ–५८।

२. The Upanishads from the including protions of the Vedas, and are therefore called the Vedants, or the end of the Vedas, a denomination which suggesits that they contain the essence of the Vedic teachings—

—Indian Philosophy–Second Edition–pp. 137.–36.

३. द्र० ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका – पृष्ठ ९२ – वेदसंज्ञा विचार विषय।

में "इषे त्वार्ज्जे त्वा" की "इषेत्वोर्जे त्वेति" यह प्रतीक रख कर व्याख्या की गई है। एतरेय ब्राह्मण में ऋग्वेद के मन्त्रों की "अभित्वा देवसविनरिति" यह प्रतीत देकर व्याख्या की गई है। ब्राह्मणग्रंथों में यज्ञ याग सम्बन्धी अर्थात् केवल वेदों की कर्मकाण्ड सम्बन्धी व्याख्या ही उपलब्ध है। उपनिषदों में ऋषियों ने ज्ञान-काण्ड को अधिक महत्व दिया है उन्होंने वेदों में उपलब्ध होने वाले आध्यात्मिक रहस्यों का समाधि एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों द्वारा साक्षात्कार किया है। उपनिषदों में वेद के प्रतीकों की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। यद्यपि उपनिषदों की भाषा अधिक प्रवाहमयी नहीं है तो भी उपनिषदों की भाषा वेद और ब्राह्मणों से अधिक सरल है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि ब्राह्मणग्रन्थों की भांति ऋषि दयानन्द उपनिषदों को मूल वेद का भाग स्वीकार नहीं करते। जैसा लिखा है कि – मैं वेदों में एक ईशावास्योपनिषद् को छोड़ कर अन्य उपनिषदों को वेदभाग नहीं मानता किन्तु अन्य सब उपनिद् ब्राह्मण ग्रन्थों में है। वे ईश्वरोक्त नहीं हैं।[1]

उपनिषदों की संख्या

उपनिषदों की संख्या लगभग दो सौ से ऊपर है परन्तु इनमें से ग्यारह उपनिषद् ही मुख्य माने जाते हैं। उपनिषदों पर आचार्य शंकर का भाष्य केवल मात्र ग्यारह उपनिषदों पर ही उपलब्ध है। महर्षि दयानन्द भी केवल मात्र ग्यारह उपनिषदों को ही मान्यता देते प्रतीत होते हैं। इन ग्यारह उपनिषदों के नाम निम्नलिखित हैं। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डुक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा श्वेताश्वेतरोपनिषद्। डा० राधाकृष्णन् की मान्यता है कि "साधारणतः उपनिषदों की संख्या १०८ मानी

---

१. दयानन्दग्रन्थ माला – भाग दो–पृष्ठ ८५७।

जाती है जिनमें से लगभग १० उपनिषद् ही प्रधान हैं।[२]

मैं अपने इस शोध प्रबन्ध में मुख्यतः ग्यारह उपनिषदों को प्रमाणरूप में अर्थात् उपर्युक्त ग्यारह उपनिषदों में ही ऋषि दयानंद ने अपने सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों में उपनिषदों के मन्त्रों को यथार्थवादी व्याख्या की है। उसको आधार मान कर उपनिषदों में यथार्थवादी दर्शन के प्रकट का प्रयास किया हैं। प्रायः उपनिषदों की व्याख्यायें प्रत्यवादी दृष्टिकोण से की जाती हैं। जिन का अभिप्राय यही है कि उपनिषदों की दृष्टिकोण से ससार की यथार्थ रूप में सत्ता नहीं मानी जा सकती है कुछ आचार्य तो संसार की वस्तुओं का स्वप्न या भ्रम मात्र ही मानते हैं जबकि संसार के पदार्थ लाखों वर्षों से हैं। मनुष्य उन का यथार्थ रूप में उपयोग एवं उपभोग करता हैं। एसी स्थिति में यह चिन्तनीय हो जाता है कि क्या वास्तव में उपनिषदों को सृष्टि की रचना की मान्यता यथार्थवादी है या प्रत्ययवादी है। दयानन्द के विचारों को उपनिषदों में देखने का प्रयास ही शोध–प्रबन्ध का उद्देश्य है।

भारतीय दर्शन की यथार्थवादी और प्रत्ययवादी धाराएं

जीवन की प्रत्यक्ष बेला में ही मानव की इस बाह्य दृश्यमान जगत् को देखकर कौतुहल हुआ होगा और संभवतः उस कौतूहल की प्रथम तरंग ने ही उसे किसी अव्यक्त विराट् सत्ता का आभास भी दिया होगा जिसके अनुसंधान हेतु मानव मन आज भी विकलित देखा जाता है। किसी भी अव्यक्त परम सत्य की खोज से पूर्व चित को इस जगत् का वैविध्यपूरित स्वरूप अपनी ओर आकृष्ट करता है। अपने विभिन्न उपादानों से उस के मानस का अपहरण करता है, किन्तु बुद्धि के विकास के स्तर के साथ-साथ एवं अनुभूत बहुविधं

२. The Upanishads are generally to be 106 in number, of which about ten are the chiefs.

—Indian Philosophy–pp. 154-II Ed.

आधिव्याधियों के पश्चात् इस जगत् के प्रति यह आकर्षण या धारणा अवशिष्ट नहीं रह जाती, जो पूर्ण रूप से यहीं विश्राम कर एवं सन्तुष्ट होकर विरत हो जाये, क्योंकि मानव-मन अनुभवों के आधार पर बहुत शीघ्र ही जान जाता है कि यह भोगा जाता हुआ जगत् स्वयं में परमार्थ नहीं है। सुखों की स्थिति के साथ वेदनाओं का कोलाहल मानव के मन से इसकी समस्त आकृष्टता को प्रक्षालित कर देता है और मानव फिर इस जगत् के पार किसी अक्षुण्ण आनद-पूरित सत्ता की कल्पना कर उस के अनुसधान एवं प्राप्ति हेतु व्यग्र हो उठता है। भारतीय मानव का दृष्टिकोण अपने आदिम काल से ही संभवतः इस व्यग्रता से उत्पीड़ित रहा है। यही कारण प्रतीत होता है कि हम अपने अतोतमय अतीत के क्षितिज पर भी आध्यात्मिक विचारों का रंग बिखरा देखते हैं।

मानव केवल उस अव्यक्त विराट् सत्ता के विषय में ही चिन्तन नहीं करता, प्रत्युत अपनी मूल प्रकृति एवं स्वरूप के विषय में भी शोध करता है और उस चिन्तनानन्तर उपलब्ध आत्म स्वरूप का इस बाह्य जगत् और उस अव्यक्त विराट् सत्ता के साथ तारतम्य का भी अनुसंधान करने का प्रयास करता है। इन तीनों का आपूर्ण और सान्त विवेचन ही विभिन्न दर्शनों की पृष्ठभूमि में प्रतीत होता है।

जिस जगत् में रहकर और जिसके उपादानों से जीवन-निर्वाह होता है, इसका स्वरूप क्या है? क्या यह जगत् एक व्यावहारिक कल्पनामात्र है या एक ध्रुव सत्य? इसकी प्रतीति हमारे मानस या चित्त का विकार है या एक ठोस यथार्थ? आदि प्रश्न चिन्तक या दार्शनिक के सामने प्रथमतः उपस्थित होते हैं। वह इस जगत् की उपेक्षा करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि यह जगत् अश्रुओं की विमोचनस्थली मात्र नहीं है। जीव यहाँ रहकर, इसी के विविध उपादानों से उस अव्यक्त परम सत्ता के अनुसंधान और प्राप्ति के अनुष्ठान को सम्पन्न करता है तब फिर किस प्रकार इस जगत् की उपेक्षा की जा सकती है?

जगत् की सत्ता, अस्तित्व अथवा प्रकृति को लेकर भारतीय दार्शनिकों ने दो प्रकार के दृष्टिकोण अपनाये हैं। प्रथम दृष्टिकोण (जिसे यथार्थवादी दृष्टिकोण की संज्ञा दीजाती है) के अनुसार बाह्य जगत् की सत्ता वास्तविक है,यह सत्ता का अस्तित्व किसी भी रूप में किसी अन्येतर पदार्थ या तत्व पर अवलम्बित नहीं है। जबकि चार्वाक के दृष्टिकोण (जो पूर्ण रूप से भौतिकवादी है) के अनुसार बाह्य जगत् ही परम सत्य है, यह भी यथार्थवादी दृष्टिकोण माना जाता है किन्तु उक्त यथार्थवादी दृष्टिकोण जो अन्येतर दार्शनिकों के द्वारा अंगीकार किया गया है। चार्वाकीय दृष्टिकोण को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया गया। उन के अनुसार जगत् सत्य है किन्तु परमसत्य नहीं। कहने का अभिप्राय है कि अभिस्वीकृति यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार जगत् अपने एकान्तिक स्वरूप में सत्य है, उस के अतिरिक्त अन्य तत्त्व भी सत्य है, जबकि चार्वाकीय दृष्टिकोण अन्य किसी तत्त्व की मान्यता प्रदान नहीं करता। कहा जा सकता है कि चार्वाकीय भौतिकवाद एक निरपेक्ष यथार्थवादी दृष्टिकोण है और अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत यथार्थवाद एक आपेक्षित यथार्थवादी दृष्टिकोण है इसलिए उक्त (स्व-प्रतिपाद्य) यथार्थवादी दृष्टिकोण की चार्वाकीय यथार्थवादी दृष्टिकोण से व्यावृत्ति सापेक्षिक और निरापेक्षिक शब्दों से की जा सकती है।

दूसरे प्रत्ययवादी दृष्टिकोण के अनुसार बाह्य जगत् किसी अन्य तत्व का विवर्त है, या प्रपंच है। अतः वह वास्तविक नहीं है। वह हमारे ज्ञान या मन का ही एक अवभासमात्र है। उस की अपनी कोई वास्तविक सत्ता या अस्तित्व नहीं है। प्रत्ययवादी दृष्टिकोण दो प्रकार का है। प्रथम आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद, द्वितीय अद्वैतवादीय प्रत्ययवाद।

(१) आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी दृष्टिकोण के अनुसार मन से व्यतिरिक्त अथवा स्वतन्त्र कोई वस्तुनिष्ट यथार्थ नहीं है। इन के अनुसार मन से अतिरिक्त कोई ज्ञान या चेतना भी नहीं है। सभी

पदार्थों की प्रतीति मन के तदाकार हो जाने पर होती है। मन ही तत्तपदार्थों का उत्सर्जक है। जगत् का अपना कोई अस्तित्व नहीं है।

(२) अद्वैतवादीय प्रत्ययवादी दृष्टिकोण के अनुसाप जगत् का व्यावहारिक अस्तित्व भी है किन्तु वह ब्रह्म का विवर्त है। जगत की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं, वह काल्पनिक है।

बौद्ध के योगाचार या विज्ञानवादी एवं माध्यमिक या शून्यवादी सम्प्रदाय आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी विचारधारा के प्रतिनिधि हैं।

न्यायवैशेषिक, सांख्य, मीमांसा एवं बौद्ध के वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक सम्प्रदाय यथार्थवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करने वाले हैं।

प्रत्ययवादी विचारक घटनाक्रम के अनुक्रम में वस्तुगत कार्य-कारण को नहीं मानते। इन के अनुसार कार्यकारण एक मनोविष्ठ धारणा है। माध्यमिकी के अनुसार सभी कुछ शून्य है। शून्याद्भूत कार्य भी शून्य ही है। योगाचारी व अद्वैतवादी वेदान्तियों के अनुसार कारण तो है, किन्तु कार्य नहीं। कारण ही एकमात्र यथार्थ है, कार्य भ्रममात्र है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण वाले कारण कार्य के अपरिहार्य सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। उन के अनुसार कारण और कार्य दोनों ही यथार्थ हैं – वास्तविक हैं, दोनों एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध होते हैं किन्तु ऐसा मान कर भी कार्यकारण के सम्बन्ध को ले कर यथार्थवादी विचारधारा वालों में कुछ मतभेद हैं। न्याय और वैशेषिक दर्शनों के अनुसार कार्य कारण से उत्पन्न तो होता है किन्तु कारण में पूर्व रूप से विद्यमान नहीं होता। वे कार्य कारण के सम्बन्ध के बीच के सम्बन्ध को समवायी सम्बन्ध कहते हैं। इन्हें असत्कार्यवादी कहा जाता है। दूसरी ओर सांख्यादि दर्शन के अनु-

यायी कारण में कार्य की सत्ता पूर्व रूप से स्वीकार करते हैं और कारणानुरूप ही कार्य मानते हैं। किसी कार्य के कारण को "उपादान" शब्द से व्यक्त करते हैं। इन्हें सत्कार्यवादी कहा जाता है।

अब हम स्पष्टीकरण की सुविधा की दृष्टि से प्रथमतः प्रत्यय-वादी और अनन्तर यथार्थवादी दर्शनों के जगत् सम्बन्धी तत्व-शास्त्रीय एवं ज्ञानशास्त्रीय विचारों को पृथक्-पृथक् रूप से स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

बौद्धदर्शन के महायान सम्प्रदाय के योगाचार और माध्य-मिक दानों ही प्रत्ययवाद के उच्चतम रूप को प्रस्तुत करते हैं। योगाचार बाह्य सत्ता का सर्वथा निराकरण करता है। इन के मतानुसार केवल चित्त ही परमार्थ तत्व है। चित्त से तात्पर्य, इनके अनुसार — विज्ञान प्रवाह या विभिन्न मानसिक अवस्थाओं के संघात-मात्र से है। विज्ञान के अतिरिक्त ये किसी भी भौतिक जगत् परमात्मा या आत्मा को स्वीकार नहीं करते हैं। इन के अनुसार समस्त व्यक्तियों का विज्ञान ही परमतत्व है। इस के अतिरिक्त किसी सार्वभौमिक आत्मा की सत्ता नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि विज्ञान के अतिरिक्त किसी सार्वभौमिक आत्मा की सत्ता नहीं है विज्ञान के अतिरिक्त बाहर या अन्दर अन्य कोई स्वतन्त्र तत्व नहीं है। इसलिए बाह्य जगत् या जगत् का अस्तित्व नहीं है। जो मन या चित्त के अतिरिक्त प्रति-भासित होता है वह वस्तुतः मन के भीतर है अर्थात् मनोमय ही है। मन का प्रत्यय ही भ्रमवशात् स्वप्न की भांति मन से भिन्न-सा प्रतिभासित होता है। जैसे स्वप्निल पदार्थ मन से अतिरिक्त प्रतीत हो कर मन से अलग नहीं हैं, उसी प्रकार बाह्य जगत् भी मन या चित्त से भिन्न नहीं है क्योंकि किसी भी प्रकार के पदार्थ का अव-बोध हम मन के बिना नहीं कर पाते। इसलिए सब कुछ मन पर निर्भर अथवा मन के प्रत्ययों का संघातमात्र है। इसीलिए इसे

आत्म अर्थात् मन या चित्त या ज्ञान-निष्ट अर्थात् आत्मनिष्ट प्रत्यय-वाद की संज्ञा दी जाती है।

योगाचारी क्रमिक विज्ञानों की एक पूरी परम्परा स्वोकार करते हैं। उन के अनुसार चित्त में अनन्त विज्ञानों का उदय होता रहा है। ये विज्ञान परस्पर भिन्न हो कर भी वासना-संक्रमवशात् एक-दूसरे से सम्बद्ध होते रहते हैं, तथापि ये सभी स्वतन्त्र रहते हैं। ये विज्ञान स्वयंप्रकाश हैं। इन में अविद्या के कारण ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के भिन्नत्व की कल्पना कर ली जाती है। इन विज्ञानों में इतनी क्षमता होती है कि स्वयं पहचान और समझ सकें। वे स्वयं वेदन हैं। प्रत्येक वस्तु चेतना की उपज है अर्थात् समस्त पदार्थों को क्चिार सम्बन्धों में सीमित किया जा सकता है।

इन्होंने यथार्थवादी सौत्रान्तिक का खण्डन करते हुए कहा कि पदार्थ तो द्रष्टा के मस्तिष्क के विचारमात्र हैं, जो संवेदनाओं के संघातों से अवभासित होते हैं — इस से अधिक और कुछ नहीं। ये संवेदनाएं या विज्ञान आत्मनिर्भर हैं। अपने अस्तित्व के लिए वे बाह्य वस्तुओं के आश्रित नहीं हैं। इसलिये किसी भी वस्तु का अस्तित्व या भौतिक या बाह्य जगत् न होकर मात्र मानसिक होता है।

इस प्रकार योगाचारी विचारकों ने ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का एकीकरण कर के यथार्थ को मानव चेतना की अवधारणाओं में अन्तर्गत कर दिया।

बौद्ध दर्शन के माध्यमिक विचारक योगाचारी विचारकों से और एक कदम आगे बढ़ कर प्रत्ययवाद की पुष्टि करते हैं। योगाचार चित्त की सत्ता को यथार्थ ही स्वीकार करता है किन्तु इन्होंने चेतना सहित समस्त अस्तित्वों को शून्य मात्र प्रतिपादित किया। इसलिए इन्हें शून्यवादी भी कहा जाता है। इन्होंने आत्मा और परमात्मा की अवधारणा को तार्किक दृष्टि से अनुपयुक्त और अस्वीकार्य बताया। उन्होंने ईश्वर आत्मा और जगत् सभी को शून्य के

लिए समर्पित कर दिया अर्थात् बाह्य और अन्तः सत्ता दोनों का शून्य में विलयन कर दिया। इनके मतानुसार वस्तुगत यथार्थ केवल शून्य है, अतः अपरिभाष्य एवं अविश्लेष्य है। इन का मत है कि सारतत्व को खोजने का कोई साधन नहीं है इसलिए उसे समझा ही नहीं जा सकता और न ही उस का वर्णन किया जा सकता है। कारण और कार्य का सिद्धान्त अज्ञान जनित है। यह समस्त ब्रह्माण्ड एक भ्रममात्र है।

इन का परमतत्व अलक्षणीय शून्य है, वह न सत् है, न असत् है, न सदसत् दोनों हैं न दोनों से भिन्न है। इस प्रकार वह तत्व इन चारों कोटियों से विलक्षण है।[1] जिस का लक्षण नहीं किया जा सकता। अलक्षण होकर भी वह अभावात्मक नहीं है। माध्यमिकों का मत है कि अविद्या के कारण शून्य से समस्त जगत् की अभिव्यक्ति होती है। माध्यमिक या शून्यवादियों का ऐसा विचार कदाचित् प्रत्ययवाद के चरम वाद को प्रस्तुत करता है।

बौद्ध दर्शन उक्त दोनों प्रत्ययवादी मतों के बाद वस्तुनिष्ठ प्रत्ययवादी के रूप में अद्वैतवादी वेदान्त आता है। प्रत्ययवादियों में अद्वैत वेदान्त अग्रगण्य है। इन के अनुसार सच्चिदानन्दमय परमतत्व एकमात्र सत्य, चेतन, शुद्ध, अखण्ड, निविशेष, अनन्त और निरपेक्ष है, क्योंकि निर्विलोप है, अतः उस में किसी भी प्रकार के गुणों का सन्निधान नहीं किया जा सकता। इन वेदान्तियों का मत है कि जगत् वस्तुतः सर्वथा भ्रान्ति है, इसीलिए जगत् को प्रतिभास की संज्ञा दी जाती है—जो पारमार्थिक रूप में मिथ्या है, उस की सत्ता मात्र व्यावहारिक जीवन के लिए है। वह सत्य न होकर भी सत्य प्रतीत होता है। वस्तुतः वह सत्य नहीं है क्योंकि वह विवर्त

---

१. न सन्न सन्न सदसन्न चाप्युभयात्मकम्।
चतुष्कोटिर्विनिमुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः॥
माध्यमिका कारिका – १-७॥

है जैसा कि कहा जा चुका है कि इस विवर्त का कारण अविद्या या माया है। जिस प्रकार दूर अंधेरे में पड़ी रस्सी को सर्प समझ लिया जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म को जगत् के रूप में प्रतीति होती है। जिस प्रकार उस रस्सी पर हुए सर्पज्ञान के अध्यास के निरस्त हो जाने पर हमें रस्सी का शुद्ध ज्ञान होता है। उसी प्रकार अविद्या के क्षीण हो जाने पर अर्थात् ब्रह्मज्ञान हो जाने पर जगत् का भ्रम समाप्त हो जाता है। अतः उन की यह व्यावहारिक सत्ता ही है। पारमार्थिक रूप से वह भी ब्रह्म ही है। जीव को अपने ब्रह्मत्व का ज्ञान अपरोक्षानुभूति के द्वारा होता है। जैसा कि अभी कहा है कि जीवरूप और ब्रह्म अपने शुद्ध रूप में ब्रह्म से तत्वतः अभिन्न है, इसलिए ब्रह्मज्ञान और आत्मज्ञान एक ही है।

नानात्व से भरा यह जगत् मिथ्या है। इस नानात्व का आश्रय स्वयं ब्रह्म है, जो स्वयं में नानात्व व वैभिन्नय से रहित है। आचार्य शंकर का कथन हैं कि जिस प्रकार हम अपने दैनिक जीवन में रस्सी को सर्प-रूप में देखने की भूल प्रायः करते हैं। इस भ्रम में रज्जु सर्प परिलक्षित है, अनन्तर भ्रम के दूर होने पर हमको पता चलता है कि रज्जु सर्प में सर्प का अत्यन्ताभाव था। जिस प्रकार रज्जु में सर्प प्रतीत होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् प्रतीत होता है। ब्रह्म में जगन् का यह आरोपण शंकर के मतानुसार अविद्या या माया के कारण होता है। वस्तु में अवस्तु का जो उक्त आरोप है, अद्वैत वेदान्त में उसे अध्यास की संज्ञा दो गई है। इस अध्यास का मूल अविद्या अथवा माया है। माया परमेश्वर की बीज शक्ति है। यह त्रिगुणात्मिका ज्ञानविरोधी और भाव रूप है। भाव रूप का अभिप्राय अभावरूपा है। माया न तो सत् है और न असत्। इन दोनों से विलक्षण होने से उसे अनिवर्चनीय की संज्ञा दी गई है। ऐसो अविद्या की दो शक्तियां हैं—आवरण और विक्षेप। इन्हीं की सहायता से वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर उसमें अवस्तुरूप जगत् की प्रतीति कराती है। लौकिक भ्रान्तियों में

भी व्यक्ति इन दो शक्तियों का अनुभव करता है। अधिष्ठान के सत्य स्वरूप के आच्छादित होने के अनन्तर ही किसी अन्य पदार्थ की उस मूल पदार्थ पर स्थापना होती है। आवरण के द्वारा उस मूल भून को छिपाती है। विक्षेप शक्ति द्वारा अन्येतर वस्तु की प्रतीति कराती है। इस प्रकार अविद्या ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर उस से आकाश, पृथ्वी प्रभृति पदार्थों की प्रतीति की धारणा का जीवात्मा में आरोपण करती है। जिस प्रकार एक छोटा सा मेघखण्ड द्रष्टा के नेत्र को ढ़क कर अनेक योजना विहित सूर्य मण्डल को प्रच्छन्न कर देता है, उसी प्रकार परिच्छिन्न अज्ञान अनुभवकर्त्ता की बुद्धि को ढक कर अपरिच्छिन्न असंसारी आत्मा को आच्छादित कर देता है। यही आवरण शक्ति है, जो शरीर के अन्दर द्रष्टा और दृश्य के तथा शरीर के बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद को ढक देती है। जिस प्रकार रज्जु का अज्ञान रज्जु में अपनी शक्ति से सर्प पैदा कर देता है, ठीक उसी प्रकार अविद्या भी अज्ञानाच्छादित आत्मा में इस शक्ति के बल से आकाशादि जागतिक प्रपंच को उद्‌भासित कर देती है।

शंकर के अनुसार सत् वही है जो उत्तर-कालिक किसी ज्ञान के द्वारा बाधित न हो। दूर पड़ी रस्सी का सर्पज्ञान आप्त व्यक्ति के द्वारा बता दिए जाने या स्वयं दीपकादि के प्रकाश में अवलोकानन्तर बाधित हो जाता है। अतः उसे सत् नहीं कहा जा सकता। सत्य त्रिकाल-अबाधित होता है। ब्रह्म ही एकमात्र ऐसा तत्व है जो त्रिकाल समभाव से उपस्थित रहता है। वह सदा और सर्वत्र निर्बाध है। ब्रह्म से पृथक् यह नानात्मक जगत् सर्वथा मिथ्या है।

अद्वैतवादी तीन प्रकार की सत्ता मानते हैं – (१) प्रातिभासित (२) व्यावहारिक (३) पारमार्थिक।

प्रातिभासिक सत्ता से अभिप्राय है – जिस की प्रतीति तो सत्यवत् हो किन्तु पीछे वह बाधित हो जाय। जैसे रज्जु में सर्प-

प्रतीति। जगत् अपने परमार्थ रूप में इसी प्रकार का है जो तत्व-ज्ञानान्तर बाधित हो जाता है।

व्यावहारिक सत्ता इस जगत् के समस्त व्यवहार गोचर पदार्थों में रहती है। अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और जो पांच धर्म हैं। उनमें रूप और नाम जगत् के धर्म हैं। इन की सत्ता मात्र व्यवहार के लिए ही है। ब्रह्म के ज्ञानान्तर वह बाधित हो जाता है अतः वह एकान्त सत्य नहीं है। व्यवहारकाल से ही सत्य होने के कारण जगत् के विकारात्मक पदार्थों की सत्ता व्यावहारिक है। इन सब से विलक्षण त्रिकालबाध्य है। अतः वही पारमार्थिक सत्ता है। शास्त्रीय दृष्टिकोण से अद्वैतवादी, विवर्तवाद को मानते हैं, जिसके अन्तर्गत जगत् सदसद विलक्षण माया का तो परिणाम है किन्तु ब्रह्म का विवर्त है अतात्विक परिवर्तन को विवर्त कहा जाता है। कारण भूत ब्रह्म मात्र सत्य है, कार्यभूत जगत् अतात्विक है, अतः मिथ्या है। बाह्य जगत् की जो हमें प्रतीति होती है वह मिथ्या है।

ज्ञान शास्त्रीय दृष्टि से अद्वैतवादी वेदान्ती अनिर्वचनीय ख्याति को स्वीकार करते हैं जिसमें सांसारिक पदार्थों की सत्ता को न तो सत् कहा जा सकता है, क्योंकि तत्वज्ञानान्तर उस की सत्ता का बाध होता है। न उसे असद् कहा जा सकता है क्योंकि जागतिक पदार्थ असद् होते तो उन की प्रतीति कदापि संभव न होती। उन की व्यावहार काल में प्रतीति होतो है। न वे पदार्थ सदसद् भावात्मक हैं। अतः हमें अनिवर्चनीय का ज्ञान होता है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् सर्वथा मिथ्या है और उस की ये प्रतोतियाँ किसी महाप्रभु के कारण हो रही हैं। वस्तुतः ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है।

जैसा कि पहले बताया गया है कि जहां प्रत्ययवादो दृष्टि-कोण के अनुसार यह जगत् किसी अन्य तत्व का विवर्त है;

या मनोनिष्ट अवधारणामात्र है, यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार बाह्य जगत् की सत्ता वास्तविक है। वह अपनी सत्ता के लिए किसी अन्येतर पदार्थ पर सर्वाङ्गतः अवलम्बित नहीं है। प्रायः ऐसे यथार्थवादी दृष्टिकोण के मानने वाले दर्शन किसी न किसी रूप में द्वैतवादी हैं। वे जहाँ चेतन की सत्ता को वास्तविक मानते हैं, वहां जड़ की सत्ता को भी स्वीकार करते हैं, जैसा पहले संकेत कर दिया गया है, वास्तविक और सम्पूर्ण यथार्थवादी दृष्टिकोण चार्वाक या भौतिकवादियों का माना जाता है। वे तथाकथित रूप से किन्तु अन्य चार्वाकेतर यथार्थवाद से अभिप्राय – जगत् की सत्ता को स्वतः सिद्ध मानना है। उस के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह एकमात्र जगत् या प्रकृति को ही स्वीकार करे, वह चेतन जो सत्ता का भी हामी हो सकता है मात्र जगत् के प्रति दृष्टिकोण को अवलम्ब बताया गया है।

प्रथमतः इस परम्परा के क्रम में नास्तिकवादी बौद्ध-दर्शन की हीनयान विचारधारा में दोनों वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदाय आते हैं।

वैभाषिक मत को उस की ज्ञान-शास्त्रीय दृष्टि के कारण बाह्यार्थ प्रत्ययवादी भी कहा गया है। इन के मतानुसार बाह्यार्थ मन के बाहरी पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्षरूपेण बिना किसी बाधा और माध्यम के होता है। उन्होंने प्रत्यक्ष प्रमाण पर जोर देते हुये कहा है कि यदि प्रत्यक्ष प्रमाण को न माना जाय तो बाह्य पदार्थों का बोध होना असंभव हो जायेगा। क्योंकि अन्य प्रमाणों से किसी पूर्वप्रत्ययीकृत पदार्थ का ही ज्ञान किया जा सकता है। वैभाषिकों के मतानुसार मन और बाह्य जगत् दोनों ही अस्तित्व के लिए यथार्थ हैं और परस्परापेक्षी न हो कर दोनों ही स्वतन्त्र हैं।

अद्वैतवादी वेदान्त के एकात्म प्रत्ययवाद के विरोध में वैभाषिकों का कथन है कि आत्मा नामक कोई स्वतन्त्र तत्व मनुष्यों में नहीं – मनुष्य भौतिक व मानसिक धर्मों का योगमात्र है। प्रत्येक

धर्म की अपनी-अपनी पृथक् सत्ता है। वे धर्म शाश्वत और अपरिवर्तनीय हैं। किन्तु उनसे निर्मित पदार्थ परिवर्तन के आधीन हैं। पदार्थ और वस्तुएं अविरल परिवर्तनशील धर्मों की एक अनवरत धारा है। वैभाषिकों के अनुसार कर्म की यह चिरन्तन धारा केवल निर्वाण दशा में ही शान्ति और आनन्द प्राप्त करती है। धर्मों की इस गतिशीलता अर्थात् इच्छा और आवेगी के अवरोधनान्तर ही निर्वाण प्राप्तव्य है। तथापि यह दृष्टिकोण यथार्थ की उपेक्षा नहीं करता।

वैभाषिक सम्प्रदाय जगत् के बारे में परमाणुवादीय सिद्धांत को स्वीकार कर के भी पदार्थों की क्षणभंगुरता पर बल देते हैं। इन के मतानुसार क्षणभंगुर होकर भी पदार्थ दीर्घकालीन अस्तित्व वाले हैं, क्योंकि वस्तुओं के स्वरूप एक के बाद एक हमारी समझदारी में स्थान बना लेते हैं। एक कालिकता का भ्रम उनकी गति की लाघवता के कारण होता है। यह वैसे ही होता है जैसा बाणानुविद्ध पुरुष के बारे में हम यह समझते हैं कि उस की आठों पंखुड़ियों को बाज ने एक साथ ही बाँध दिया है अथवा अग्नि का स्फुलिंग एक चक्र के समान दिखाई देता है।[1]

जगत् के यथार्थ्य के विषय में उन का यह तर्क है कि जो वस्तुएं प्रत्यक्ष में दिखाई देती हैं, उन का मन आत्मा या चेतना से सर्वथा स्वतन्त्र अस्तित्व है। ये ब्रह्माण्ड के स्रष्टा के रूप में किसी ब्रह्म या परमात्मा की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते। जैसा कि अभियम्यकोष के भाष्यकार यशोमित्र कहते हैं।[2] ज्ञान प्रक्रिया में वैभाषिक इन्द्रियों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इन के मत में दृश्य वस्तुओं से स्वतन्त्र चेतना का अस्तित्व नहीं है। अपितु वह विषय और इन्द्रियों द्वारा समर्पित होता है। इन की ज्ञान प्रक्रिया कुछ इस

---

१. भा० द० प्रथम भाग – डा० राधाकृष्णन् – पृष्ठ ६२।
२. भा० द० प्रथम भाग – डा० राधाकृष्णन् – पृष्ठ ६२३।

प्रकार है – रूप का एक क्षण, चक्षु का एक क्षण तथा चित्त का एक क्षण जब एक साथ ही निकट सम्पर्क में आते हैं तो इस को ही रूप का दर्शन कहते हैं। इन के मतानुसार पदार्थ इन्द्रियों के माध्यम से चेतना पर अपना स्वरूप आरोपित करता है।

हीनयान के ही दूसरे सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के अनुसार बाह्य-सत्ता सत्य है किन्तु इन का ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से वैभाषिकों से मतभेद है इन के मतानुसार बाह्य सत्ता का ज्ञान हमें अपनी इंद्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में नहीं होता प्रत्युत अनुमान के द्वारा होता है। इसलिए इन्हें बाह्यार्थानुमेयवादी कहते हैं क्योंकि बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को अनुमान सिद्ध मानता है। इन के मतानुसार बाह्य पदार्थ मन पर अपना चित्र अंकित करते हैं। उसी से उनके अस्तित्व का अनुमान होता है। ये चित्र मन के द्वारा नहीं बनाये जाते। इसलिए यह अनुमाप्य होता है कि कारणभूत पदार्थ मन से बाहर और यथार्थ है तथापि सौत्रान्तिकी की बाह्य सत्ता चित्त सापेक्ष है।

यद्यपि न्याय वैशेषिक दर्शन में अनेक तत्वों को मान्यता दी गई है, तथापि वे तत्वजड़ और चेतन की दृष्टि से दो ही कोटियों में रखे जा सकते हैं। तस्मात् द्वैतवाद ही माना जाता है। सांख्य भी एक द्वैतवादी दर्शन है और उस का दृष्टिकोण भी पूर्णरूप से यथार्थवादा है। साँख्य दर्शन की दृष्टि प्रकृति और पुरुष द्विविध मूल तत्व हैं। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध से इस जगत् की अभिव्यक्ति होती है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति जड़ है, पुरुष चेतन है। दोनों स्वतन्त्र सत्ता वाले हैं। किन्तु सृष्टि के आदि में पुरुष सन्निधि से प्रकृति के त्रिगुणों की साम्यावस्था में संक्षोभ उत्पन्न होता है और सृष्टिक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। कार्य कारण को घटनाक्रम में ये सत्कार्यवादी हैं। कार्य और कारण की अनन्यता को स्वीकार करते हैं। प्रत्येक कार्य अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व अपने उपादान कारण में अन्तर्निहित रहता है। ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से इन्द्रियों के

द्वारा बाह्य विषय बुद्धि में पुरुष की छायापत्ति से भासते हैं। बाह्य विषय अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं।

आस्तिक दर्शनों में न्याय-वैशेषिक द्वैतवादी दर्शन हैं। इन्होंने एकाधिक तत्वों की सत्ता को स्वीकार किया है। इन की दृष्टि में बाह्य संसार यथार्थ है। बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञान पर निर्भर नहीं है। घट-पटादि का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। हमें उन वस्तुओं का ज्ञान हो या न हो तथापि उनका अपना अस्तित्व है। इनके मतानुसार प्रत्येक प्रतीति या ज्ञान का एक विषय है। विषयी ज्ञान से पृथक् है। न्याय का यथार्थवाद अनुभव एवं तर्क पर अवलम्बित है।

इसी प्रकार यथार्थवादी वैचारिकों में मीमांसा का स्थान महत्वपूर्ण है, यद्यपि जैमिनी के मीमाँसा सूत्र में बहुत कम दार्शनिक विचार पाये जाते हैं। ऐसा माना जाता है कि वेदों के कर्म संबंधी भाग ही उन का मुख्य प्रतिपाद्य था। मुख्यतः उनमें यज्ञों और कर्मकाण्डों की ही व्याख्या की गई है लेकिन मध्य युग में दर्शन मीमांसा पद्धति का मुख्य प्रतिपाद्य बन गया। मीमांसा दर्शन के दो मेरूस्तम्भ प्रभाकर और कुमारिल भट्ट यथार्थवाद के प्रवलतम समर्थक थे। इन का यथार्थवाद समय की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता थी बौद्धों के नास्तिक विचार अपनी प्रभुसत्ता समाज पर प्रस्थापित कर रहे थे। जैन धर्म फल-फुल चुका था। डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के अनुसार उपनिषदों का एकेश्वरवादी सिद्धान्त ब्रह्माण्ड की अवास्तविकता से विचार की ओर प्रवृत्त था। यदि संसार अवास्तविक है तो यज्ञों और इस जन्म और भावी में जन्म में तज्जनित सुखों के लिए स्थान कहां? अतः मीमांशकों के लिए आवश्यक हो गया कि ये उपनिषदों के आदर्शवाद का ध्यान करें। वाह्य संसार की जो परोक्ष वास्तविकता हैं, उसे मानव के स्वभाव में अन्तर्निहित रहने हेतु उन के लिए अत्यावश्यक हो गया कि वे तत्ववाद का ऐसा यथार्थपूर्ण

चित्र उपस्थित करें जो जन-सामान्य को प्रभावित कर सके।[१] जैसा कि पूर्व पंक्तियों में बताया गया है कि एक मीमांसा का आदर्शवाद वेद विरोधी बौद्धों के स्वरों की प्रतिक्रिया में उभरा, यद्यपि द्वैतवादी वेदान्त का आदर्शवाद भी औपनिषदिक दर्शन की संस्तुति के लिए वैचारिक जगत् में जा रहा था। तथापि मीमांसा दर्शन बौद्धों के आदर्शवाद के निरसन हेतु सजग हो कर सामने आया क्योंकि दिंगनाग तथा धर्मकीर्ति आदि बौद्ध महारथियों एवं योगाचार विज्ञानवादियों ने यथार्थवाद के विरुद्ध आक्रमण कर दिया था। इसलिए मीमांसकों के लिए भी आवश्यक हो गया था कि वे अपने कर्मकाण्डीय विचारों की महत्ता के लिए उन बौद्धों के आदर्शवाद का खण्डन करें। इन लोगों ने भी जगत् की सत्ता को स्वीकार किया। इनका भी मत था कि इन्द्रियों के द्वारा जगत् की सत्ता का ज्ञान होता है। इन्द्रियों के द्वारा हमें जिस रूप में जगत् की उपलब्धि होती है, वही जगत् का वास्तविक स्वरूप है, सत्यता है। मीमांसकों के अनुसार तीन प्रकार के पदार्थो का हमें ज्ञान होता है। प्रथम भोगायतन अर्थात् शरीर जिस में रह कर आत्मा सुख-दुःख का अनुमान करता है। और तृतीय भोग विषय अर्थात् पदार्थ जिन का भोग आत्मा किया करता है। द्वितीय भोग साधन अर्थात् इन्द्रियां जिन के द्वारा भोग आत्मा किया करता है। इन तीनों प्रकार के पदार्थों से युक्त ही संसार है, जो नानारूप, अनादि तथा अनन्त हैं। मीमांसकों के अनुसार न तो इस जगत् की सृष्टि होती है और न प्रलय होती है। मीमांसा भी न्याय-वैशेषिक की भांति अनेक तत्ववादी है, उन के मतानुसार वेद के द्वारा प्रतिपादित स्वर्ग नरक तथा अदृष्ट आदि अनेक अतीन्द्रिय विषयों कीं सत्ता है।

मीमांसा दर्शन कार्य कारण में एक नवीन दृष्टि देता है। उनके अनुसार कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण के अतिरिक्त 'शक्ति'

१. क्रिटिक स्टडी – डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री।

भी स्वीकार करनी चाहिए। जैसे बीज में उस स्वयं के अतिरिक्त अन्य और अंकुरण शक्ति है। क्योंकि देखा जाता है कि यदि बीज को आग में भून दिया जाये तो उसकी वह अंकुरण शक्ति समाप्त हो जाती है, जबकि बीज पूर्ण रूप से विद्यमान रहता है। मीमांसको का मत है कि इसी प्रकार सभी पदार्थों में अपनी २ एक शक्ति है जिसके रहने से ही प्रत्येक वस्तु अपना कार्य कर सकती हैं।

इस प्रकार भारतीय दर्शन भी दोनों ही विचारधाराओं का विशद रूप से प्रतिपादन करते हैं किन्तु यहाँ बता देना उपयुक्त होगा कि यथार्थवादो और प्रत्ययवादी विचारधारायें जो दर्शनों में जगत् के प्रति व्यक्त दृष्टिकोण की अपेक्षा रखती है, मुख्यतः पाश्चात्य दर्शन के अनुसार प्रस्तुत हुई है। प्रत्येक दर्शन ने दृष्टि को सामान्य समझ-मान कर परम सत्ता के सन्धान का ही प्रयत्न किया, किसी परम शक्ति के केन्द्र की जो सब का मूल हो या दृष्ट जगत् के बहु-विध प्रपंचों से रहित हो, बीज ही मुख्यतः दार्शनिक दृष्टिकोण समझा जाता रहा है। किन्तु परवर्ती दर्शनों ने इस जगत् की सत्ता के प्रति उपेक्षा के व्यामोह को त्याग कर पूर्ण रूप से इस के विषय में सजगता दिखाई। रामानुज और दयानन्द दोनों ही अपने विचारों के अनुरूप यथासामर्थ्य एवं यथा संभव सन्दर्भों से इस जगत् के विषय में विचार करते हैं। दोनों दार्शनिकों ने अद्वैत वेदान्त के जगन्मिथ्यावाद के दृष्टिकोण का जो उस समय प्रत्येक बुद्धिजीवो को अपनी ओर आकृष्ट करने में व्याप्त था – प्रत्याख्यान किया है। रामानुज यद्यपि विशिष्टाद्वैतो हैं जीव और जगत् को वे परमात्मा का अंश ही मानते हैं तथापि जगत् के व्यावहारिक पारमार्थिक स्वरूप के सन्दर्भ में उस के सत्वत्व को स्वीकार करने में किसी प्रकार अद्वैतवशात् प्रमाद दिखाते प्रतीत नहीं होते। दयानन्द त्रितत्ववादी हैं। उन की दृष्टि एक सम्पुष्ट यथार्थवादी दार्शनिक की दृष्टि प्रतीत होती है। इसलिए वे जगत् की सत्ता को (प्रकृति) सांख्य वत् पूर्ण स्वतन्त्र और वास्तविक मानते हैं।

औपनिषदिक दर्शन की समन्वयात्मक व्याख्या—

वेदों के "एकं सद्विप्राबहुधावदन्ति" का प्रस्ताव ऋषियों के लिए एक चुनौती सा प्रतीत हुआ, जिसने ऋषि साधनों के अन्तस्थल में उस जिज्ञासा की अग्नि को प्रज्वलित किया जिस की उत्पत्ति ज्वाला की प्रेरणा से वे उस अगम्य मार्ग पर उस 'एकं' सद् के अनुसन्धान में निकल पड़े। इसलिए उपनिषदों को वेद की ज्ञान-काण्डीय व्याख्या कहना अनुपयुक्त नहीं है। भारतीय आस्तिक लोगों का कथन है कि वेद या श्रुति को सँहिता/ब्राह्मण तथा आरण्यक भागों के समान उपनिषद् भी वेदों का एक भाग है। इतनी बड़ी आप्त भावना, अर्थात् उपनिषदों की श्रुति मानने की भावना कदाचित् उन ऋषि तपस्वियों की उन अनुभूतियों की सत्यता के कारण ही आस्तिक लोगों में आयी, जिन्होंने वेदों की प्रेरणा से तद्निर्दिष्ट और तदुक्त मार्ग और लक्ष्य की ओर कदम बढ़ाया।

उपनिषद् अनेक ऋषियों-प्रचेताओं के चिन्तत का नवनीत है, जो उद्भावन के मानस को तो प्रमुदित कर ही गया, प्रत्युत जिसने भाषा चिन्तकों के भी पथ का निदर्शन किया। यही कारण प्रतीत होता है कि चाहे दर्शन द्वैतवादी हों या अद्वैतवादी अपने विचारों की उद्भूतता एवं सम्पुष्टता के लिये उपनिषदों का आभारी है। सभी दर्शनों का स्त्रोत इन उपनिषदों के दार्शनिक विचारों में विचारकों ने खोजा है। सभी दार्शनिकों ने उपनिषदों के विचारों कीस्व-मतानुकूल व्याख्या की है। शकर और रामानुज के परिप्रेक्ष्य में भी औपनिषदिक दर्शन का यदि हम पर्यवेक्षण करें तो दोनों के दर्शन औपनिषदिक विचारों की आधार भित्ति पर अवलम्बित होते हैं। अर्थात् वे भी औपनिषदिक दार्शनिक विचारों के बिना प्रभावित हुए नहीं रह सके हैं जैसा कि पूर्व पंक्तियों में कहा गया है कि औपनिषदिक दार्शनिक विचार अनेक चिन्तकों के आलोडित चिन्तन और साधना का साररूप है। तस्मात् अनुभूतियों के वैभिन्न से उन विचारों में वैभिन्न आ जाना स्वाभाविक है, तथापि परवर्ती दार्श-

निकों ने जिनमें वेदान्ती बादरायण, अद्वैतवादी शंकर और वैष्णवाचार्य के नाम प्रमुख हैं, सभी ने उपनिषदों के अति गहन दार्शनिक विचारों की भिन्न-भिन्न व्याख्या प्रस्तुत की है ऐसा माना जा सकता है।

शंकर एवं रामानुज यद्यपि दोनों ही वेदों को अपौरुषेय स्वीकार करते हैं किन्तु उनकी जो वेदान्ती संज्ञा दी गई है, वह कदाचित् उनके द्वारा स्वीकृत औपनिषदिक दर्शन का आधारात्मक व्याख्या से सम्बन्ध रखतो है। प्रायः सभी विद्वानों का मत है कि बादरायण के ब्रह्म सूत्रों की रचना की पृष्ठभूमि में औपनिषदिक दर्शन-धारा हो प्रभावित है यह एक अन्य विषय है कि उन्हीं उपनिबन्धमूलक बादरायण सूत्रों की शङ्कराचार्य अद्वैतात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैतात्मक एवं मध्वाचार्य द्वैतात्मक। यहां यह बता देना भी उपयुक्त होगा कि इन सभी व्याख्याकारों या भाष्यकारों ने यद्यषि वेदों की ऋचाओं को भी प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है किन्तु वे बाहुल्य रूपेण उपनिषदों की उक्तियों को ही अपनी मान्यता-अवधारणाओं की सम्पुष्टि में प्रस्तुत करते हैं। आचार्य शंकर का समस्त दर्शन उपनिषदों से प्राण-वायु प्राप्त कर अग्रसित होता है। वे विरोधी के परिहारों में पटु तार्किक से अविलम्ब अध्येयता की बुद्धि में अपनी सैद्धान्तिक अवधारणाओं को संस्थापित करते हैं। यही कारण रहा प्रतीत होता है कि आचार्य शंकर द्वारा उपनिषदों का भी विशद भाष्य किया गया है। रामानुज ने उपनिषदों पर भाष्य नहीं लिखा है, किन्तु पदे-पदे वे औपनिषदिक उक्तियों को प्रस्तुत करते हैं।

इन के मत में उपनिषदों में ब्रह्म के दो स्वरूपों का वर्णन मिलता है। सविशेष सगुण रूप का एक निर्विशेष-निर्गुण स्वरूप का है। उस में किसी गुण का संविधान नहीं किया जा सकता है। इसलिए शंकराद्वैत में उस निरूपाधिक, निर्विकल्प और निर्गुण प्रभृति नामों से कहा गया है। दूसरे स्वरूप में जिसको शंकराद्वैत में सगुण,

सविशेष, सविरूप आदि नामों से कहा गया हैं। अनेक गुणों का सन्निधान किया गया है। आचार्य शंकर ने निर्विशेष और सविशेष ब्रह्म को क्रमशः पारमार्थिक और व्यावहारिक स्तर पर रख कर देखा है, उस के मतानुसार ये जो लक्षण परक शब्द पुल्लिग में प्रयुक्त हुए हैं, वे सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर के द्योतक हैं और जो नपुंसक लिंग में प्रयुक्त हुए हैं वे परम निर्गुण के अभिधायक हैं।

निर्गुण पर ब्रह्म को निष्प्रपच भी कहा गया है। उसे अजन्मा, अजर, अमर, अमृत और अभय बताया गया है।[1] इसके स्वरूप का निषेधात्मक शैली में निरूपण किया गया है[2]। बृहदारण्यकोपनिषद् में आगे है—वह अमर है, वह न मीठा है. न पतला है, न बड़ा है, न लाल है, न द्रव्य है, न छाया है, न तम है, न शत्रु है, न आकाश है, न संठ है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र हैं. न कान हैं, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न काम है, न अन्दर है, न बाहर है, न भक्षक है, और न भव्य है।[2] इसीलिये उसे अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, रसहीन, तैल और गन्ध रहित अनादि; अनन्त; महत्वातीत और अटल बताया गया है।[3]

जब वह विषय नहीं है तो इन्द्रियों, मन, बुद्धि के लिये अग्राह्य है और अज्ञेय है।[4] बृहदारण्यक में है कि वह आत्मतत्ववत् अर्शीय अग्राह्य और निर्विकार है।[5]

माण्डुक्योपनिषद् में है कि वह न अन्तः प्रज्ञ है; न ब्रह्मीप्रज्ञ है और न उभयात्मक हैं, न प्रज्ञानघन है' न प्रज्ञ है, न अज्ञ है। वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिंत्य, एकात्मपल्पयसार,

---

१. बृहदारण्यक – ४-४-२५ ॥
२. बृहदारण्यक – ३-३-८ ॥
३. कठोपनिषद् – १-१-१५ ॥
४. पूर्वोक्तैव – २-१-१२ तथा बृहदारण्यक – ३-८-१ ॥
५. बृहदारण्यक – ३-४-२२ ॥

प्रपंचोपशम, शान्त, शिव और अद्वैत रूप है।[१] बृहदारण्यक यद्यपि उस की सर्वत्र व्याप्ति सिद्ध कर चुका है, तथापि ईशावास्योपनिषद् में है कि वह सब के अन्दर है और बाहर है।[२]

श्वेताश्वेतर मुण्डुकोपनिषद् उसे स्वरूपेण निष्फल, निष्क्रिय, प्रशान्त निरवयव और निरंजन बताते हैं।[३]

दूसरी ओर सविशेष और सगुण ब्रह्म की धारणा की अभिव्यक्ति देते हुये ये ही उपनिषद् कहते हैं कि यह समस्त जगत् तज्जलान् है अर्थात् सत्प्रसूत है। प्रलयावस्था में सारा विश्व उसी में समाविष्ट हो जाता है और सारा विश्व उसी में अवस्थित या उसके द्वारा पालित है।[४] इस विचार का अनुमोदन माण्डुक्योपनिषद् भी करता है।[५]

श्वेताश्वेतरोपनिषद् उसे विश्वकृत, विश्ववित् आत्मयोनि, काल का भी काल, गुणी, सर्ववितु, प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी तथा संसरण मोक्ष स्थित तथा बन्ध का हेतु बताता है।[६] बृहदारण्यकोपनिषद् में है कि जीव के पाप पुण्यादि कर्मों के परिणाम उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं करते। वह सर्वरूपेण आप्तकाम और निरतिशय है। वह विधाता है, जीवात्माओं को उनके धर्माधर्मानुसार फल देता है।[७] ईशावास्योपनिषद् में है कि जो कुछ भी स्थावर जङ्गम है, वह सब उस के द्वारा आच्छादित है।[८]

---

१. माण्डुक्य – ७ ॥
२. बृहदारण्यक-पूर्वोक्तैव ॥
३. श्वेताश्वेतर-६-१७ तथा मुण्डक २-२-६ ॥
४. छान्दोग्य० – ३-१४-१ ॥
५. माण्डूक्य० – ६ ॥
६. श्वेताश्वेतर – ६–१६ ॥
७. बृहदा० – ४-४-२२ ॥
८. ईशावास्य० – १ ॥

छान्दोग्योपनिषद् उसे भारूप (चैतन्य) सत्य संकल्प, आकाश-वन्निराकारात्मा, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वरस, सर्वतः सर्वव्यापक, वाक् रहित एवं सम्भ्रम शून्य बताता है।[1] मुण्डक में भी है कि वह नित्य विभु, सर्वगत, सुसूक्ष्म, तदत्पथ तथा भूतयोनि है।[2] इस प्रकार ब्रह्म के विषय में निर्गुण और सगुण विधाय, दोनों प्रकार के विचार उपनिषदों में मिलते हैं। शंकराचार्य इन दोनों रूपों को ब्रह्म की दो अवस्थायें विशेष बताकर उन के अर्थ को अनुकूल कर लेते हैं। उन के मतानुसार परब्रह्म जो अखण्डैकरस है, वह स्वरूपतः शुद्ध ज्ञान मात्र है। उसमें अन्येतर किसी भी प्रकार के गुणों की समुपस्थिति नहीं है किन्तु जो अवर कोटि का ब्रह्म है जिसकी संज्ञा ईश्वर है, जो उस ब्रह्म का वह स्वरूप है जो अविद्या से उपहित है, वह परमसत्य नहीं है। उस की समष्टि भी जीव की व्यष्टिवत ही अज्ञानाच्छादित है। इस प्रकार आचार्य शंकर दोनों कोटियों के गुण कथनों का समन्वय अपनी तीव्र मनीषा से ब्रह्म और तदैव ईश्वर में करते हैं। प्रतीत होता है कि श्रुतियों के ऐसे विरोधाभास वचनों को दृष्टिपथ में रख कर ही वे ब्रह्म को सगुण-निर्गुण इन दो स्वरूपों में अभिहित कर सगुण को जीव से परिष्कृत रूप वाला उद्घाटित करते हैं।

जैसा कि पीछे बताया है कि रामानुज भी अपनी समग्र दर्शन सामग्री के लिए उपनिषदों के वैचारिक कानन में भ्रमण करते रहे हैं किन्तु आचार्य शंकर से एक कदम आगे बढ़ कर औपनिषदिक विचारों को यथार्थपरक और प्रकृतिपरक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। वे इन अर्थों को किसी वाद (प्रतिबिम्बावाद, अध्यासवाद, अद्वैत-वादोवाद) के साथ नहीं बांधते । उन्होंने ब्रह्म की उस विभेदरूपता को स्वीकार किया है जिस में वे ब्रह्म की पर और अवर कोटियों में रख कर एक को ब्रह्म की संज्ञा और अन्येतर को

---

१. छान्दोग्य० – ३-१४-२ ॥

२. मुण्डक – १-१-६ ॥

ईश्वर की संज्ञा से विभूषित करते हैं और उन के विरोध को परा-अपरा विद्या के भेद के द्वारा प्रशमित करते हुये उन में परस्पर समन्वय करते हैं। आचार्य रामानुज ब्रह्म और ईश्वर की दूरी को निरावृत्त कर सम्पूर्ण ब्रह्म की ही मान्यता को बल देते हैं। सगुण और निर्गुण ब्रह्म के तादृश भेद को रामानुज स्वीकार नहीं करते हैं और पूर्वोक्त स्वरूपों के सन्दर्भ में रामानुज को मान्यता एक नवीन दृष्टिकोण देतो है। उन के अनुसार निर्गुण का तात्पर्य गुणों के सवथा अभाव से न हो कर हेय गुणों के अभाव से है। ब्रह्म का निर्गुणत्व उस के गुण राहित्य के कारण नहीं है प्रत्युत: रामानुज के अनुसार ब्रह्म में शुद्ध गुणों – जो अन्येतर जोव और प्रकृति में अल्पज्ञत्वादि तथा जड़त्वादि भौतिक गुण हैं, के अभाव से है। इस प्रकार रामानुज जहां ब्रह्म और ईश्वर को एक सम्पूर्ण व्यक्तितत्व मानते हैं, वहाँ वे उसे उस एकांकी निर्गुण और सगुण भी स्वीकार करते हैं। रामानुज शकर को उस पारिभाषिक सीमा रेखा को अस्वोकार करते हैं जिन में निर्गुणत्व व सगुणत्व परस्पर विरोधी विशेषण है। ईशोपनिषद् में ब्रह्म के साथ परस्पर विरोधो विषयों का सम्बन्ध बताया गया है। तथा वह गति शून्य है तथापि वह मन से अधिक वेगवान् है।[1] शंकराचार्य के अनुसार यदि हम उस का विचार निरूपाधिक और सोपाधिक रूप से करें तो उस में परस्पर कोई भेद नहीं है। उपनिषदों में जीव और ब्रह्म के द्वैत का कथन करने वाली उक्तियां पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं।[2] ऐसे स्थलों पर अथवा द्वैतपरक उक्तियों को आचार्य शंकर व्यावहारिक जगत् की मानते हैं और उन की उपसमिति परमार्थ रूप में अद्वैतात्मकता में कराते हैं। शंकराचार्य के अनुसार यह समस्त जगत् ब्रह्म का अतात्विक विवर्त है। अतः मिथ्या है। यह परिदृश्यमान द्वैत व्यावहा-

---

१. ईश=१ ८-१-५ ॥ बृहदा० ४-५-१८ ॥
२. कठोपनिषद् – १-३-१ ॥ श्वेता० १-६ ॥ १-१२ ॥
मुण्डको० – ३-१-१ ॥

रिक है, पारमार्थिक नहीं। एकमेवाद्वितीयम्, नेहनानास्तिकिन्चन आदि औपनिषदिक उक्तियों की पृष्ठभूमि में आचार्य शंकर का क्रमशः कथन है कि वह परम ब्रह्म की एक मात्र सत्य है तथा अन्य यह प्रतीयमान वैभिन्न कुछ भी नहीं हैं, अर्थात् पूर्णतः मिथ्या है।

आचार्य रामानुज द्वैतपरक उक्तियों की सत्यता को स्वीकार करते हैं उन के मत में जीव ब्रह्म से अभिन्न हो कर भी स्वरूपतः उस से भिन्न है। अतः रामानुज और अन्य परवर्ती मध्वादि वैष्णव आचार्य व्यावहारिक और पारमार्थिक भेद दृष्टि को प्रश्रय नहीं नहीं देते। उन के मतानुसार यह द्वैत सत्य है, यद्यपि जैसा कि ऊपर कहा है कि रामानुज उसे द्वैत की उपसमिति एक विशिष्ट अद्वैत में करते हैं। जगत् की मिथ्यापरक उक्तियों को वे यथासमय व रूप से पारमार्थिक अर्थात् निर्णयात्मक एवं यथार्थात्मक बताते हैं। "एकमेवाद्वितीयम्" का अर्थ विशिष्टताद्वैतवादियों के अनुसार यह है कि विशिष्ट वस्तु एक हो है अनेक नहीं या विशिष्ट वस्तु ही प्रधान है, दूसरा नहीं। इस प्रकार यह उपनिषद् वाक्य एक शब्द को प्रधानार्थक मान कर विशिष्ट ब्रह्म के प्रधान्य को बतलाने में तात्पर्य रखता है। रामानुज ने एक अन्य सन्दर्भ में कहा है कि एकमेवाद्वितीयम् जगत् के एकमात्र निमित्त कारण के रूप में अन्य किसी तत्व से व्यावृत्ति का अभिधान करता है। इसी प्रकार "नेहनानास्तिकिन्चन" आदि भेद-निषेधक उपनिषद् वाक्य, विशिष्टाद्वैतानुसार विशिष्ट एवं ब्रह्म से बहिर्भूत स्वतन्त्र भेद के निषेध में तात्पर्य रखता है। यहां जितने भो पदार्थ हैं, सब ब्रह्मात्मक हैं। अतएव सब एक रूपेह्य अर्थात् अब्रह्मात्मक अनेक पदार्थ यहां नहीं हैं।

आचार्य शंकर दो प्रकार के वाक्यों का, जो मोक्ष के सन्दर्भ में साम्य और तादात्म्य का कथन करते हैं, सरलता से समन्वय कर देते हैं। साम्य रूप में वे सगुणब्रह्म अर्थात् ईश्वर का सान्निध्य मानते हैं और तादात्म्य को पूर्ण मोक्ष की अवस्था बताते हैं।

रामानुज साम्यार्थक उक्तियों को ही मोक्ष को वास्तविक विषयक मानते हैं।

डा० राधाकृष्णन् के अनुसार यद्यपि माया का सिद्धान्त प्राचीन उपनिषदों में नहीं मिलता तो भी आचार्य शंकर का मायावादी सिद्धान्त उपनिषदों के मत का एक बुद्धिपूर्वक विकास है।[1] जिन शब्दों को ले कर आचार्य शंकर मायावाद के सिद्धान्त का विकास करते हैं, आचार्य रामानुज और अन्य वैष्णव तथा अन्येतर मतानुयायी उन्हीं शब्दों के आधार पर सत् प्रकृति की अवधारणा करते हैं।

उपनिषदों में कितने ही ऐसे मंत्र पाये जाते हैं जिन में एक शाश्वत अपरिवर्तनीय ब्रह्म तथा ब्रह्म से इस जगत् की उत्पत्ति की अवधारणा का खण्डन मिलता है। यथा–बृहदारण्यक-उपनिषद् में कहा गया है कि प्रारम्भ में यहां कुछ नहीं था, सर्वव्यापी मृत्यु का साम्राज्य था, वह ही सब को आवृत्त किए हुए था। तैत्तिरीयोपनिषद् कहता है कि आरम्भ में अनस्तित्व से अस्तित्व का उद्भव हुआ। छान्दोग्य भी कहता है कि आरम्भ में एकमात्र अनस्तित्व था। इतने पर भी शंकराचार्य ने इन मंत्रों की व्याख्या इस प्रकार की है कि अद्वैतवाद का सिद्धान्त ही पुष्ट होता है। वे कहते हैं कि अनस्तित्व का अर्थ यह नहीं है कि एक पूर्ण शून्य की अवस्था थी, अपितु इसका अर्थ यह है कि तब ब्रह्म था, सत् था।

वैष्णवाचार्य इन वचनों को जगत् के कार्यान्तरपूर्ण की असत्य की व्याख्या मानते हैं और सत्य का अर्थ अनस्तित्व न कर के नामरूपविहीन करते हैं। उन के मतानुसार यह जगत प्रपंच से पूर्व सदात्मक था, अपने स्वरूप से असद् अर्थात् नामरूप विहीन था, किन्तु उस की स्थिति सूक्ष्म कारण रूप में विद्यमान थी। अस्तु।

औपनिषदिक दर्शन को केवल शंकर और रामानुज ही समन्वयात्मक व्याख्या नहीं करते, प्रत्युत प्रत्येक भावी दर्शन ने उस की

१. भा० द० – भाग २ – डा० राधाकृष्णन् – पृष्ठ ४६२।

स्वमतानुसार व्याख्या की है। इस प्रकार औपनिषदिक दर्शन भावी दार्शनिक विचारों का उप-जीव्य माना जा सकता है।

ब्रह्माद्वैत, मायावाद और जगन्मिथ्यावाद के प्रति यथार्थवादी दर्शनों की अनास्था—

बौद्धों द्वारा वैदिक धर्म के समूलोच्छेदन का प्रयास किया जा रहा था, जैन धर्म ने अपना प्रभाव क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत कर लिया था, वैदिक क्रिया कलाप समाप्तप्राय: हो चले थे, हिन्दू धर्म अपनी प्रणावना के प्रति सन्दिग्ध हो उठा था। कुछ व्यक्तिवादी शैव, वैष्णवमतावलम्बी भक्ति एक विचारक या दार्शनिक यद्यपि ईश्वर की भक्ति का प्रचार कर रहे थे, तथापि उनका क्षेत्र (अदियार और जासवार) अत्यन्त सीमित था। वैसे तो "बौद्ध धर्म" की त्याग-परक प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया स्वरूप तथा ईश्वरावाद की भक्तिपरक प्रवृत्ति के विरुद्ध मीमांसक लोग वैदिक क्रिया कलापों के महत्व को अत्यन्त बढ़ा कर जनता के समक्ष प्रस्तुत कर रहे थे। कुमारिल तथा मण्डन मिश्र ने ज्ञान और संन्यास के महत्व को दूषित ठहराया तथा कर्म (काण्ड) के महत्व एवं गृहस्थाश्रम को उपयोगिता पर बल दिया।[1] किन्तु यह कर्मकाण्ड परक वैदिक धर्मीय संरक्षकत्व जन सामान्य के और स्वयं वैदिक धर्म के अवचेतन मानस में खोयी उस अभीप्सित पिपासा को शान्त नहीं कर पा रहा था, जो बौद्धों आदि के प्रबल और सतत आघातों से उत्पन्न हुई थी। एक देवदूत की आवश्यकता वैदिक धर्म के क्षितिज पर प्रतीत हो रही थी, जो उस अस्ताचलस्थित आशावादी एवं ठोस धर्म के सूरज को अपने प्रयासों से ला कर पुन: एक नूतन विहार के समुदयार्थ प्राची को थमा दे। ऐसे समय में ही मायावाद के तुमुलनाद के साथ शंकराचार्य ने उस वैदिक धर्म के क्षितिज पर अद्वैतवाद का प्रकाश पुञ्ज के साथ प्रवेश किया। उन के साथ में ऐसा अमिय-कुम्भ था जो बौद्ध धर्म, मीमांसा

---

१. भारतीय दर्शन भाग – २ डा० राधाकृष्णन्–पृष्ठ ४४२-४४३।

और भक्तिधर्म-के मधु से (भी) पिपासित जनता को एक महती तृप्ति प्रदान करने को सामर्थ्य रखता था।

शकर ने मूर्तियों और कर्मकाण्डों की अनास्था के विमुख और उद्वेलित उस जनता को ज्ञान का दीपक देकर पुनः वैदिक धर्म के प्रति अस्थावादी बनाया है। जो उस समय के लिए परमावश्यक भी था, सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक कारणों से निराशा-वादी या अतिशय उदारवादी हो कर सत्यापेक्षी जनता में कोई ऐसा चमत्कारिक धार्मिक दर्शन दिया जाये जो उन के मन को तो शांति दे ही, साथ ही एक अपूर्व परम्परा का भी उद्घाटन करे और उसी का परिणाम रहा कि शकर ने ब्रह्माद्वैतवाद का प्रतिपादन कर प्रत्येक जीवात्मा को एक अतिशय महिमा कि तुम सब ब्रह्म हो – से मण्डित कर एक विचारों का मंत्र फूंक दिया।

उन्होंने प्रतिपादित किया "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" समस्त प्राणि-मात्र ब्रह्म हैं। जो अज्ञानोपहित हो कर संसरण कर रहे हैं, यदि तत्वज्ञान हो जाय तो ये ब्रह्मरूप हो जायेंगे (जाते हैं) अतः उस तत्वज्ञान के प्रति अभिलाषा एवं प्रयास करो। उन्होंने इस समस्त जगत् को अविद्योपसहित ब्रह्म का विवर्त बताया।

वस्तुतः ब्रह्मद्वैतवाद का सिद्धांत शंकर के मायावाद के ऊपर टिका हुआ था। माया एक सद्मद्विलक्षण ज्ञान विरोधि, भाव-रूपात्मक ऐसा तत्व है, जो ब्रह्म को भी अपनी आवरण शक्ति से आवृत्त कर जागतिक संसरण करने के लिए बाध्य कर देते हैं और अपनी विक्षेप शक्ति से उसे अज्ञान में बांधे रखती है। किन्तु मुमुक्षु जीवात्मायें सत्य-ज्ञान प्राप्त कर उस आवरणभूता अविद्या से विनिर्मुक्त हो जाते हैं और अपने परमार्थ स्वरूप ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्म का अज्ञान आवृत्त स्वत्वभूत बोध माया के कारण ही जन्ममरणादि के व्यूह में घिरा रहता है।

इस मायावाद के सिद्धान्त के कारण ही शंकर इस जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण करते हैं। वेदान्त के अनुसार जगत् की सत्ता

परमार्थिकी न हो कर प्रत्युत्त व्यावहारिक और प्रातिभासिक है। "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" आदि श्रुतियों को प्रमाण में उपस्थित किया। यह जो भाव रूप माया या अविद्या या अज्ञान है, यह जगत् भी उसी से उद्भूत है। अतः अज्ञानवत् ही जगत् की सत्ता है। अज्ञान या माया स्वयं मिथ्या है, अतः तज्जन्यं जगत् भी मिथ्या ही हैं। जिस प्रकार से ब्रह्म के अखण्डेकरस विशद्ज्ञान की सचेतना से माया का अस्तित्व नहीं रहता, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के होने पर इस जगत् का मिथ्यात्व भी सिद्ध हो जाता है।

ब्रह्माद्वैत, मायावाद और जगन्मिथ्यावाद के निरूपण ने जहां एक और सामान्य से सामान्य मानव को परम सत्ता का सर्वाङ्गीण महनीयता में समाविष्ट कर एक अद्‌भुत सहानुभूति का अवसर दिया वहीं एक अत्यन्त विवादास्पद तर्कनाओं का समूह ही उन्हें पीछे से थमा दिया। ये तीनों सिद्धान्त एक ऐसे आदर्शवाद के जन्मदाता बने जिन्हें स्वीकारने पर हमारे समस्त जीवन-जगत की अनुभूतियां सर्वथा शून्य मात्र सो प्रतीत होने लगी। इन्ही सिद्धांतों से अनुभूति के स्तर पर जहाँ एक तरलता मानव के अन्दर निष्पन्दित होती है, वहीं तर्कणा के जगत में एक ऊहापोह का वातावरण बन जाता है। जिस जगत् में समस्त जीवन के सार रूप कर्मों का तथा तत्वों का समन्वय करते हैं, वह जगत् क्या पूर्णतः मिथ्या हो सकता है ? अनादि और शुद्ध ब्रह्म किस तरह ऐसी सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय माया का लक्ष्य बन कर निरीह हरिण – सा जीवरूप में जगत् की काया में उद्‌भ्रमण करता है। आदि आदि प्रश्नों ने यथार्थवादी दर्शनों के सम्मुख एक विचित्र समस्या की स्थापना करदी। इसके परिणाम स्वरूप सहज़ अग्राह्य इस मत के उच्छेदनार्थ प्रवृत्त हुए। उस उच्छेदन उन्मूलन प्रवृत्त के मूल में उन सभी खण्डकारों का यथार्थवादी दृष्टिकोण था, जो अनुभूति और प्रत्यक्ष के धरातल पर सर्व प्रकारेण इस जगत् की सत्ता को सत् रूप में लाते हैं और परमात्मा, जीवात्मा और जगत् के मध्य सीमा रेखायें

मानते हैं। इन यथार्थवादी दर्शनों में जहां न्याय वैशेषिक सांख्य, पूर्व मीमांसा है। वहां आदर्शोन्मुखी यथार्थवादीय वैष्णव सम्प्रदायीय दार्शनिक भी हैं। उन सभी ने मायावाद तथा तदपेक्ष्या-उत्पन्न सभी सिद्धान्तों का कटु विरोध करते हुए उक्त सिद्धान्तों में पूर्ण अनास्था दिखायी।

शंकर के ब्रह्माद्वैत, मायावाद और जगत् मिथ्यावाद का परवर्ती यथार्थवादियों ने प्रबल रूप से प्रत्याख्यान किया।

न्याय दर्शन के आचार्यों में शंकर मिश्र ने "भेदरत्नम्" के द्वारा भेदसिद्धि पूर्वक उक्त अभेदवादीय सिद्धान्तों का युक्तितः खण्डन किया है। इसी प्रकार विश्वनाथ न्याय पंचानन ने "भेदसिद्धि" ग्रन्थ में शंकराद्वैत का प्रत्याख्यान किया।

वैष्णव वेदान्ताचार्यों ने तो शंकरद्वैत और मायावाद का और भी सुन्दर तथा प्रौढ़ तर्कों के आधार पर खण्डन किया। इन वैष्णव वेदान्तियों ने सर्वप्रथम रामानुज और ईश्वर का भेदाभेद प्रस्थापित कर के मायावाद के प्रत्याख्यानार्थ आश्रयानुपपत्ति, निर्वत्यनुपपत्ति-सात[1] प्रकार की अनुपपत्तियां दीं आदि। इनकी भी परम्परा के अन्य विद्वान् वेदान्त देशिक ने न्याय परिशुद्धि, शतदूषणी के द्वारा माया को सौ दीप दिखाते हुए अद्वैतवादियों के ब्रह्माद्वैत, जीवाद्वैत मायावाद, जगत् मिथ्यावाद आदि का सुन्दर तर्कपूर्ण खण्डन किया।

मध्वाचार्य ने स्वयं जगन्मिथ्यावादादिः अद्वैत के सिद्धान्तों का खण्डन किया, उन के सम्प्रदाय के व्यासतीर्थ ने अपने "न्यायामृतम्" ग्रंथ में अद्वैतवादी सिद्धान्तों का युक्तियुक्त तर्कों के आधार पर खण्डन किया।

इसी प्रकार निम्बार्क और तत्सम्प्रदायों केशव–काश्मीरी एवं पण्डित माधव मुकुन्द ने अपने क्रमशः– "वेदान्तकास्तुमप्रभा" तथा अध्यासपरमगिरिवज्र" में शंकरीय वेदान्त के सिद्धान्तों का समूलोच्छेदन करने का प्रयास किया।

---

१. श्रीभाष्य – १-१-१.॥

इसी ब्रह्माद्वैत, मायावाद और जगन्मिथ्यावाद को सर्वथा अनुचित कहने वालों की परम्परा में जो सर्वाधिक मधुर तथा स्तर उभर कर सामने आया वह महर्षि दयानन्द का है। अन्य पूर्वोक्त दार्शनिकों ने यथार्थ जगन्मिथ्यावाद का खण्डन किया किन्तु वे जीव को उस परम ब्रह्म के अंश के रूप में माया को उस ब्रह्म की विविध सर्गकरी-शक्ति के रूप में प्रतिपादित करते रहे और परमार्थ रूप में जगत् को भी ब्रह्माशंभूत ही मानते रहे जिस को देखकर पढ़ कर ऐसा प्रतीत होता है, मानों जीव, जगत् को उस परम भव्यता की बलि पर चढ़ाने का पूर्वाग्रह के अद्वैत के विकण्ठक होकर भी छोड़ नहीं पा रहे थे। किन्तु महर्षि दयानन्द ने अपने ओजपूर्ण विचारों के आधार पर ब्रह्म, जीव और जगत् को पृथक्-पृथक् शाश्वत सत्य माना।

दयानन्द के ब्रह्म-जीवभेद, माया के अनस्तित्वाद, जगत् के सत्यत्व प्रतिपादन का और ब्रह्माद्वैत मायावाद तथा जगन्मिथ्यावाद के खण्डन का आधार अन्येतर यथार्थवादी दर्शनों से एक अलग ही वैशिष्ठ्य रखता है, उन्होंने अपनी उक्त मान्यताओं के परिपोषणार्थ वेदों के मन्त्रों को उपस्थापित किया और अपनी मूलार्थग्राहिणी तथा तत्वानुवेषिणी प्रज्ञा के आधार पर स्वयं अद्वैतवाद के आधारभूत ग्रन्थ वादरायणकृत सूत्रों में अद्वैतवादी मान्यताओं का खण्डन तथा ब्रह्मजीवभेद प्रतिपादन आदि दिखाया।[1]

यहाँ पर यथार्थवाद में यथार्थ शब्द का प्रयोग पाश्चात्य शैली की दृष्टि से ही किया है। अपितु यथार्थ शब्द से अभिप्राय है—यथा+अर्थ=अर्थाः—पदार्थाः अर्थात् जैसे पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे यथार्थरूप में हैं या केवल रज्जु में सर्पवत् हैं, भ्रममात्र हैं। उपनिषदों के तत्त्वज्ञान के अनुसार वे वास्तव में हैं। इस विशिष्ठ अर्थ में यथार्थ शब्द का प्रयोग हुआ है।

---

१. द० समन्वयवाद – द्वितीय अध्याय ।।

द्वितीय अध्याय

वेद एवं उपनिषद्

उपनिषदों के यथार्थवाद का वैदिक आधार—

प्राचीन वाङ्मय में वेदों की प्रामाणिकता

समस्त भारतीय वाङ्मय का आदि स्त्रोत वेद के पश्चात् भारतीय वाङ्मय में वेदों की व्याख्या दो रूपों में उपलब्ध होती है। एक कर्म काण्डात्मक, दूसरी ज्ञानात्मक व्याख्या है। कर्मकाण्ड का प्रतिपादन ब्राह्मण ग्रन्थों में हुआ है और ज्ञानकाण्ड की ज्ञानात्मक व्याख्या उपनिषदों में उपलब्ध होती है।

आर्य जाति के आचार विचार तथा दर्शन समझने के लिये वेदों का ज्ञान परमावश्यक है। जो मान्यता या सिद्धान्त प्रत्यक्ष, अनुमान तथा स्मृति आदि शास्त्रों से सिद्ध नहीं होते हैं, वहां वेद को परम प्रमाण या स्वतः प्रमाण के रूप में मनु आदि ने स्वीकृत किया है।[1]

वेदों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी प्राचीन आर्यों का मत था कि परम कारुणिक भगवान् सृष्टि रचकर जैसे प्राणीमात्र के लिये वायु, अग्नि, जल आदि सभी वस्तुएं प्रदान करते हैं। ऐसे ही ज्ञान के रूप में सृष्टि के आदि में वेद का ज्ञान ऋषियों के माध्यम से मानव को प्रदान कराते हैं। यद्यपि दूसरी विचारधारा जो वेदों को मनुष्य निर्मित मानती है इसके विपरीत है। जिसे कि हम आधुनिक या पाश्चात्य विचारधारा कह सकते हैं। परन्तु समस्त भारतीय साहित्य में और वेदों ने स्वयं अन्तःसाक्षी के रूप में मानव निर्मित न मान कर ईश्वर द्वारा प्रदत्त माना है। जैसा कि यजुर्वेद के पुरुष सूक्त और ऋग्वेद में स्पष्ट कहा है कि उस यज्ञस्वरूप परमात्मा से

---

१. धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ (मनु०) ॥

ऋग्वेद, साम, यजु और अथर्ववेद उत्पन्न हुये हैं।[1] इसी प्रकार अथर्ववेद के स्कम्भ सूक्त में ईश्वर को ही वेद प्रदाता माना है।[2] अर्थात् उसी परमात्मा से ऋग्वेद, सामवेद, यजु और अथर्ववेद का ज्ञान मानव को उपलब्ध हुआ है।

अखिल आर्ष साहित्य ने वेदों को परम प्रमाण रूप में स्वीकार किया है।

१. वैशेषिक दर्शन ने माना है कि वेद ईश्वरोक्त है। इनमें सत्य विद्या और पक्षपात रहित धर्म का ही प्रतिपादन है।[3]

२. न्याय दर्शन में कहा है कि जिस प्रकार आयुर्वेदशास्त्र की कुछ औषधियों के लाभदायक सिद्ध होने से समस्त शास्त्र प्रामाणिक माना जाता है, उसी प्रकार आप्त द्वारा कहे जाने से वेद भी प्रामाणिक शास्त्र हैं।[4] योग दर्शन में आप्त, अर्थात् गुरु के भी गुरु ईश्वर को स्वीकृत किया है। क्योंकि शेष गुरु एक काल में आकर समाप्त हो जाते हैं परन्तु वह ईश्वर जो वेदों का

---

१. तस्मात् यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानिजज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तमादजायत ॥
यजु०अ०३१।ऋ०१०।९०।१९ ॥

२. यस्माद् च अपातक्षन् यजुं स्मादपाक्षन्। सामानि लोमान्यथार्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः (यस्माहच०)
जो सर्वशक्तिमान परमेश्वर है, उसी से ऋग्वेद, साम, अथर्व और यजु ये चारों उत्पन्न हुये हैं। इसी प्रकार रूप का लंकार से वेदों की उत्पत्ति चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं सो कौनसा देव है।
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वैदिक मंत्रालय से मुद्रित पृष्ठ ११-१२ तक

३. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् – वैशेषिक दर्शन–अ०१-अ० १ सू० ३।

४. मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्त प्रामाण्यात् ॥

प्रकाश करता है सर्वदा नित्य है, काल से परे है।[1]

३. ईश्वर की जो निज अर्थात् स्वाभाविक विद्या शक्ति है उससे प्रकट होने से वेदों का नित्यत्व और स्वतः प्रमाणत्व रूप में सांख्यदर्शनकार महर्षि कपिल को अभीष्ट है।[2]

४. वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को सिद्ध करते हुए उल्लेख किया गया है कि वह ब्रह्म जिसकी जिज्ञासा करनी अपेक्षित है वह शास्त्र अर्थात् वेद का प्रकाश करने (कारण) वाला है अर्थात् उसने ही वेद ज्ञान को हम सब प्राणियों के कल्याण के लिये दिया है।[3]

५. आचार्य शंकर भी उक्त सूत्र पर भाष्य करते हुए कहते हैं कि ऋग्वेदादि चारों वेद, वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं। सूर्य के सामान सब सत्य, अर्थों को प्रकाशित कराने वाले हैं। उनका बनाने वाला सर्वज्ञत्व आदि गुणों से युक्त पर ब्रह्म है। मनुष्य ऐसे ग्रंथों का निर्माण नहीं कर सकता है। अतः परमेश्वर से भिन्न सब विद्याओं से पूर्ण कोई भी नहीं है।[4] इत्यादि—

वेदों के अन्तः साक्ष्य से लेकर आचार्य शंकर आदि ने भी वेदों के ज्ञान को प्रामाणिक और ईश्वर प्रदत्त माना है। महर्षि दयानन्द ने, इस युग में आकर वेद के सम्बन्ध में जो भ्रान्त धारणाएं उत्पन्न हो गई थीं, उस भ्रान्त विचारधारा का खण्डन ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका और सत्यार्थप्रकाश तथा वेदों का भाष्य रचकर किया है।

---

१. एष पूर्वेषामपिगुरूः कालेनानवच्छेदात्। न्याय द०अ० १—अ०२-सू० ६७॥

२. निजशक्त्याभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् – सांख्यदर्शन – अ० ५ सू० ५१॥

३. शास्त्रयोनित्वात् – अ० १ – पा० १ – सू० ३॥

४. ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य·········सर्वज्ञः कल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य ········ सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्········इति सिद्धं लोके········ वक्तव्यमिति··· वे०अ०१-पा०१-सू०३ पर शंकर भाष्य॥

वेदों के भाष्य की परम्परा में रावण से लेकर स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वररूचि, भट्ट भास्कर, महीधर, उबट और सायण मध्यकालीन भाष्यकार और वर्तमान युग में महर्षि दयानन्द, श्री अरविन्द, जयदेव विद्यालंकार, पण्डित धर्मदेव, स्वामी ब्रह्ममुनि, प्रभृति विद्वान् हैं। मध्यकालीन भाष्यकारों में प्रमुख रूप से आचार्य सायण का नाम अधिक प्रसिद्ध है। सायण के वेद भाष्य में प्रायः कर्मकाण्ड को ही अधिक महत्व दिया गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार उन्हों ने प्रायः सभी मंत्रों की संगति यज्ञों के विनियोग तक ही सीमित सी कर दी है, जिससे उसका भाष्य संकुचित होकर बौद्धिक नहीं रहा है। उसने स्वयं ही वेदों का विषय कर्मों का व्याख्यान माना है।[1]

पश्चिमीय विद्वानों ने वेदों का नवीन विकासवादी दृष्टि से भाष्य किया है। उनका अभिप्राय वेदों में प्राचीन आर्यों के परिवार का या समाज का प्रारम्भिक अवस्था से विकास का वृतान्त है। इन विद्वानों पर सायण का प्रभाव है। यद्यपि इन विद्वानों ने परिश्रम किया है, स्वच्छन्द उड़ाने एवं कल्पना भी की हैं परन्तु वेदों में जो ज्ञान विज्ञान भरा है वहां तक ये लोग नहीं पहुंच सके हैं। कुछ पश्चिमीय विद्वानों ने वेदों को गड़रियों के गीत भी कहा है, परन्तु इसका दोषी श्री अरविन्द जी ने आचार्य सायण को ठहराया है।[2] चाहे मध्य-

---

१. ....एवं वेदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता....कर्माणि वेदस्य विषयः। तदवबोधः प्रयोजनम्—काण्वसंहिता – सायण आचार्य कृत भाष्य उपक्रमणिका से।

२. वेद के विषय में आधुनिक सिद्धान्त इस विचार से प्रारम्भ होता है कि जिसके लिये सायण उत्तरदायी है कि वेद एक ऐसे आदिम जंगली और अत्यधिक बर्बर समाज की सूक्ति संहिता हैं। जिसके नैतिक व धार्मिक विचार असंस्कृत थे, जिनका

कालीन भाष्यकार हों अथवा योरोपीय उन्नीसवीं शताब्दी के विद्वान् हों दोनों का ही वेदों के मंत्रों का भ्रान्त अर्थ करने का एक प्रमुख कारण था—मंत्रों या सूक्तों में आये देवता । ये भाष्यकर देवता का अभिप्रायः उस मंत्र या सूक्त की प्रतिष्ठापित शक्ति से लेते थे परन्तु दयानन्द ने नैरुक्त प्रक्रिया जो आर्ष मानी जाती है, उस को माना है और मन्त्रों के देवता का अर्थ किया, मन्त्रों का प्रतिपाद्यविषय—अर्थात् निरुक्त में स्पष्ट कहा है कि दैवत उनको कहते हैं कि जिनके गुणों का कथन किया जाय अर्थात् जो संज्ञा जिन-जिन मन्त्रों में जिस-जिस अर्थ की होती है उन-उन मन्त्रों का नाम वही देवता होता है जैसे "वाचं ते शुन्धाभि" (यजु० ६-१४) मंत्र का देवता विद्वांसः है। इस का यह अर्थ हुआ कि इस मन्त्र में विद्या से सम्बन्धित विषय का प्रतिपादन है। जैसा कि दयानन्द ने यजुर्वेद के ६ अध्याय के १४ वें मन्त्र का अर्थ उक्त अभिप्राय से किया है परन्तु उवट ने देवता शब्द का समुचित अर्थ नहीं लिया, अजा के बच्चे मेमने को यज्ञ में आहुत करते समय इस मन्त्र को बोल कर उस के अंगों के प्रक्षालन के लिये विनियोग रूप में माना है। विस्तारभय से हम इस पर अधिक प्रकाश नहीं डाल सकते हैं। विशेष ज्ञान के लिए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भाष्यकरण समाधानादि विषय नामक अध्याय में दयानन्द ने महीधर, सायण, उवट, प्रभृति विद्वानों की कुछ मन्त्रों की समीक्षा की है। इसलिये ही श्री अरविन्द ने महर्षि दयानन्द की भाष्य शैली को वैज्ञानिक एवं सत्य का उद्घाटन करने वाली शैली माना है। उन की भाष्यशैली के विषय में "श्री योगी अरविन्द के उद्गार" ऋषि दयानन्द की इस धारणा

दृष्टिकोण बिलकुल बच्चों का था (वेदरहस्य—भाग १—पृष्ठ ३१ श्री अरविन्द अनुवादक—अभय—१९४८)।

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यन् ।
इच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्तेतद् दैवतः स मन्त्रो भवति (निरुक्त अ०७-१)
ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका वेद विषय विचार) ।।

में कि वेद में धर्म और विज्ञान दोनों सत्य पाये जाते हैं, कोई कल्पित बात नहीं है। "मैं इस के साथ अपनी धारणा जोड़ना चाहता हूँ कि वेदों में एक-दूसरे विज्ञानकी सच्चाईयां भी विद्यमान हैं। 'दयानन्द का विश्वास था कि वेदमें परमेश्वर,प्राकृतिकनियम आत्मा और प्रकृति,पुराने अज्ञान और पुराने युग की मिथ्याज्ञान की अव्यवस्था और अस्पष्टता के बीच में उसकी ऋषि दृष्टि थी, जिसको बन्द करके रखा था। उसकी चाबियों को उसी ने पालिया और बन्द पड़े हुये स्रोत की मोहरों को उसी ने तोड़ कर परे फेंक दिया।"

वेदों में यथार्थवाद (त्रैतवाद)—

महर्षि दयानन्द ने वेदों में ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति तथा सभी आध्यात्मिक सामग्री के साथ वेदों में गणित विद्या आदि विज्ञान सम्बन्धी विद्याओं का प्रतिपादन किया है।

यद्यपि उन के इस प्रयास पर अनुसंधान करके कोई आविष्कार वैदिक विद्वानों ने अभी तक नहीं किया है परन्तु जिस समय विमान

१. There is nothing fastestic in Dayananda's idea that Veda contains truth of Science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that Ved contains other truths of Science the modes world. It as Dayanand held on strong enough grounds, the vase seveals to us God... soul...God and nature...I am convinced that what ever may be the final complete, Dayanand will-. the first discover of the right dues. A mids...Misunderstanding, his was the egs of direction vision...truth and fastendd. He has found the keys of the doors that time has closed as under the seals of the imprisoned fountains "Sri Aurobindo" Bamkim Tilak Dayanand-p. 57.3rd Ed.

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में नौविमानादि अध्याय में ऐसे विमानों का वर्णन हुआ है, जो सैलून १९०२ में उड़ा था लोकलोकान्तर में जाने की तो समस्त पश्चिमी जगत् में कल्पना भी नहीं थी।

विद्या का आविष्कार नहीं हुआ था, उस से लगभग तीस वर्ष पूर्व ऋग्वेद आदि भाष्य भूमिका में वेद मन्त्रों के अर्थ निकाल ऐसे मंत्रों का वर्णन उन्होंने किया, जिन की कल्पना भी योरोप जगत् में नहीं थी। श्री अरविन्द तो उन से भी आगे बढ़ कर कहते हैं कि मैं तो यहां तक कहूँगा कि वेदों में कुछ वैज्ञानिक सत्य तो ऐसे भी हैं जिन्हें आधुनिक विज्ञान जानता तक नहीं। दयानन्द के इस सूक्ष्म अन्वेषण का परिणाम यह निकला कि वेद जो अभी तक सायणादि विद्वानों तक कर्मकाण्ड की पुस्तक थी और पाश्चात्य विद्वान् जिनमें केवल प्रकृति की शक्तियों की पूजा मानते थे। अब अध्यात्म तथा ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तक हो जाती है। जिस में एक वैज्ञानिक धर्म का प्रतिपादन और अन्य विद्याओं के मूल (बीज) भी प्राप्त हो जाते हैं।

इन उक्त हेतुओं से यह समझने में सहायता मिलती है कि कुछ विद्वान् जो यह मानते हैं कि उपनिषदों में वेदों के विरुद्ध क्रान्ति की गई है, उन की यह कल्पना उचित प्रतीत नहीं होती है। जिस आध्यात्मिक विद्या का वर्णन उपनिषदों में हुआ है, उस का स्त्रोत वेद है। अर्थात् वेदों के विरुद्ध उपनिषदों में कुछ भी नहीं कहा गया है।

महर्षि दयानन्द वेदों में एक यथार्थवादी दर्शन का प्रतिपादन करते हैं जिस को कि हम त्रैतवाद नाम दे सकते हैं। इस त्रैतवाद के अन्तर्गत ईश्वर, जीव और प्रकृति को यथार्थ रूप में स्वीकार किया जाता है। जिस प्रकार उपनिषदों में केवल एक ब्रह्म का प्रतिपादन हुआ है इसी प्रकार वेद भी एक ईश्वर की उपासना मानता है। ईश्वर को अनेक नामों से कहा गया है, उस के असंख्य नाम हो सकते हैं वे अनेक नाम बहुदेवतावाद के द्योतक नहीं हैं अपितु एक ही ईश्वर विभिन्न शक्तियों के नाम हैं। जैसा कि यजुर्वेद के ३२वें अध्याय, श्वेताश्वेतरोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में कहा गया है कि उसी को अग्नि, उसी को आदित्य, उसी को वायु,

चन्द्रमा शुक्र, आपः आदि नामों से कहा जाता है।[1] इसी प्रकार ऋग्वेद में प्रतिपादन किया है कि ये इन्द्र वरुण मातरिश्वरा आदि नाम भी उसी ईश्वर के हैं अर्थात् वह एक है, विद्वान् लोग उस को अनेक नामों से कहते हैं।[2]

उसी परमात्मा को जानों जिस में सभी देव समाये हुये हैं अर्थात् जो सब में व्यापक है[3] यह ऋग्वेद और श्वेताश्वेतरोपनिषद् में स्पष्ट उपलब्ध होता है।

उपनिषदें वेदों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करती हैं—

उपनिषदें वेदों को प्रमाण मान कर चलती हैं, न कि वेदों का खण्डन करती हैं। उस अक्षर पर ब्रह्म का वर्णन करते हुए कठोपनिषद् में स्वीकार किया है कि जिस ब्रह्म को प्राप्त करने का सभी वेद उपदेश देते हैं, उस ब्रह्म को जानों।[4] ब्राह्मण वेद के स्वाध्याय द्वारा उसी परमात्मा को जानने की इच्छा करते हैं।[5] मुण्डकोपनिषद् तो कहता है कि उस परमात्मा का अग्नि मुख है, चन्द्रमा और सूर्य चक्षु है,दिशायें श्रोत्र हैं। तथा ऋग्वेदादि वेद उसकी खुली हुई

---

१. तदेवाग्निस्तदादित्यस्यद्वायुस्तदुचन्द्रमाः। तदेवशुक्रं तद् ब्रह्मता आपः सप्रजापति-यजु० ३२-१-श्वेतरोपनिषद्-४।२॥

२. इदं मित्रं वरूणामाग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णो गुरूत्मानं। एकं सद्विप्रा बहुधावदन्तिग्रग्निं यम मातरिश्वानमाहुः।
(ऋ० १।१६४।४६)

३. ऋचोअक्षरे परमे व्योमन यस्मिन् देवा अधि विश्वेनिषेदुः।
यस्तन्नवेदकिमृचाकरिष्यति य इत तद्विदुस्त इमे समासते॥
(ऋग्वेद्–१।६४।३९॥ श्वेताश्वे०४-८)॥

४. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति। कठोपनिषद् – २।१५।

५. तथा तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति।
(बृहदा० ४।४।२२)।

वाणी हैं।[1] ये ऋग्वेद, साम और यजु उसी परमात्मा के द्वारा प्रकाशित ज्ञान है।[2] अतः इन मुख्योपनिषदों की अन्तः साक्ष्य के अनुसार वेदों को उपनिषदें प्रमाण रूप में स्वीकार करती हैं। यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय और ईशोपनिषद् में तो कुछेक मन्त्रों को छोड़ कर कुछ भी अन्तर नहीं प्रतीत होता है। अन्यत्र वेदों के मन्त्रों को ज्यों का त्यों उपनिषद् में ग्रहण किया गया है। ये उपनिषदें उस के भी रस हैं। वेद रस हैं और उपनिषदें उन के रस हैं। ये उपनिषदें अमृतों के भी रस हैं, वेद अमृत हैं, ये उन की अमृत है।[3] तपदम और कर्म ये उपनिषदों के आधार हैं और वेद ही उपनिषदों का सब शरीर है।[4] कुछ प्रमाण तो हम पीछे दे चुके हैं और शेष प्रसंगानुसार दिये जायेंगे। जैसा कि हम पूर्व कह आये हैं कि यथार्थवाद से हमारा अभिप्राय ब्रह्म, आत्मा और प्रकृति एवं प्रकृति से निर्मित पदार्थों से है। जब यह सिद्ध हो गया कि उपनिषदें वेदों के विरुद्ध नहीं अपितु वेदों को प्रमाण रूप में स्वीकार करती हैं। अब यह अवलोकन एवं सिद्ध करने का प्रयास किया जाय कि इन तीनों तत्वों में दोनों अर्थात् उपनिषद् और वेद कैसे एकमत अथवा साम्य हैं।

वेद में एक ईश्वर का प्रतिपादन—

उपनिषदों में जो जो सिद्धान्त प्रचलित है वह यह है कि उपनिषदों का ब्रह्म एक है। आचार्य शंकर के सिद्धान्तानुसार तो ब्रह्म

---

१. तस्मादृचः सामयजूंषि दीक्षाः। (मुण्डको० ४।१।६)।

२. अग्निमूर्धाचक्षुषी चन्द्रसूर्यो दिश श्रोत्रे वाग् विवृतांश्चवेदाः।
वायुप्राणोहृयं विश्वमस्यपदभ्यां पृथिवी हेण सर्वभूतान्तरात्मा।
मुण्डको० २ (१।४)।

३. ते वा एते उसानां वेदाहि रसास्तेषामेते रसाः।
तानिवा एतान्यमृतानाममृतानि, वेदाह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि। (छान्दोग्य – ३।५।४)

४. तस्यै तपोदमः कर्मेति प्रतिष्ठावेदा सर्वंगानि सत्यमापतनय ॥
[केन० ४।७।८ ॥

ही एकमात्र सत् है, शेष सभी मायोपहित चैतन्य है। ब्रह्म ही संसार का अभिन्न निमितोपादान कारण है। परन्तु यदि उपनिषदों का आधार वेद माना जाए तो परस्पर संगति से ऐसा अर्थात् आचार्य शंकर का मत समीचीन प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि वेदों के अनेक मंत्र एक ब्रह्म का प्रतिपादन तो करते हैं परन्तु साथ ही आत्मा अर्थात् जीवात्मा और संसार के पदार्थों की सत्ता भी स्वीकार की गई हैं। इसी प्रकार उपनिषदों में भी वेद मन्त्रों को लेकर उसी प्रकार सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जैसा कि वेद ने किया है। अन्तर केवल इतना है कि वेद एक सागर है जिस में सभी प्रकार की विद्याओं का वर्णन बीज रूप में हुआ है। उपनिषद् वैद के केवल एक अङ्ग अर्थात् ज्ञानकाण्ड की अनुभूति परक व्याख्यायें प्रस्तुत करती हैं। उपनिषदों के उन वचनों का अभिप्राय तो हम आगे अध्यायों में स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे यहां केवल वेद और उपनिषदों में ब्रह्म सम्बन्धी मन्त्रों का साम्य दिखाना ही उचित है।

जिस प्रकार उपनिषदों में एक ब्रह्म माना है इसी प्रकार वेदों में भी ईश्वर का वर्णन आया है।

१. सृष्टि में जो कुछ भी जड़ चेतन संसार है वह समस्त परमेश्वर से व्याप्त है।
२. जो समस्त विश्व का अनुपम स्वामी और अखिल भुवनों का का एक पति परमेश्वर है। उसीं परम सत्ता का वर्णन परम

---

१. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्॥
(यजु० ४०-१-ईशो० १)।

२. पतिर्बभूथासमो जनानामेकोविश्वस्य भुवनस्य राजा॥
(ऋ० ६।३६।४)।

३. सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स ब्राह्मण महत्॥
(अथर्व० १०।८।४७)।

पुरुष, सृष्टि का अध्यक्ष, देवों का देव तथा ब्रह्म आदि नामों से अनेक मन्त्रों में पाया जाता है।

३. ब्रह्म का साक्षात्कार जिज्ञासु कर लेता है तब समस्त भुवनों का साक्षात्कार कर लेता है। क्योंकि वह ब्रह्म सूक्ष्मतिसूक्ष्म है।[1]

४. विद्वान् ब्राह्मण उसी एक ब्रह्म की स्तुति भरी वाणियों से भक्ति करते हैं।[2]

५. हम लोग अपनी रक्षा के लिये उस ईश्वर की, जो जंगम और स्थावर सब का स्वामी है, वही बुद्धि का प्रेरक है, उस की प्रार्थना करते हैं।[3]

६. उसी एक ईश्वर को अग्नि, वायु, चन्द्रमा, यम, मातरिश्वा आदि नामों से कहा जाता है।[4]

७. हे अखिल ऐश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर ! आपसे भिन्न तथा आप से भिन्न तथा आपके तुल्य द्युलोक और पृथ्वी पर न हुआ है और न होगा। हम लोग लौकिक पदार्थ अश्व, हाथी आदि सवारियों की इच्छा करते हुए तथा अन्न, बल आदि से युक्त हो कर

---

१. यत्र लोकाश्च कोशाँश्चापों ब्रह्म जनाविदुः।
यसच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भंतं ब्रूहि कतमः स्विदेव स ॥
(अथर्व० १०।७।१०)।

२. ब्रह्माणं ब्रह्मवाहमं गोभि सखायमृग्मियम्।
(गांदोहसेहुवो – ऋ० ६।६।४५।७) ॥
रूचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तद ब्रूवन्।
यस्तवैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे। (यजु० ३१:२१)
ओ३म् ब्रह्मश्वं ब्रह्म। यजु० ४०।१७ ॥

३. तमीशानं० जगस्तस्थुषस्पतिं – ऋ० अ० १ अ० ६ व १५ मं० ५ ॥

४. तदेवाग्निस्तदादित्य... .....यजु० ३२।१ ॥

हम आप की प्रार्थना एवं उपासना करते हैं।[1]

८. उस परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए वेद कहता है कि वह शरीर रहित, शुद्ध, नस-नाड़ियों से रहित, पापों से रहित स्वयम्भू आदि विशेषणों से युक्त है।[2]

पश्चिमी मनीषी और पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित भारतीय विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों में ब्रह्म विद्या नहीं है, ब्रह्म विद्या का विकास वेद के बाद वेदान्त अर्थात् उपनिषदों में हुआ है।[3] कुछ विद्वान् इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि ऋग्वेद के अन्तिम में आते-आते एकेश्वरवाद की भावना कुछ पनप गई थी। परन्तु दयानन्द तो इस विचारधारा के एकदम विपरीत उद्घोषणा करते हैं कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर के ही प्राप्त करने में है।[4] उन की अपनी मान्यता है कि सब वेद वाक्यों में ब्रह्म का ही प्रतिपादन है कहीं साक्षात् रूप से कहीं परमात्मा से है।[5] महर्षि दयानन्द अपनी इस मान्यता को सिद्ध करने के लिए कठोपनिषद् का प्रमाण देते हैं।

---

१. नत्वावां अन्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्ती मघवान्निंद। वाजिनो गव्यन्तस्तवा हवामहे॥
(साम० उ० १।४।११)॥

२. स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमवर्णमस्नाविरंशुद्धमपापविद्धं कविर्मनीषीपरिभूः स्वयंभूर्याथा तथ्यतोऽर्थान् व्यंवधादच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

३. The conception of Brahman which has been the highest glory for the Vedanta philosophy of later days had hardly emerged in the Rigveda from the association of the sacrificial mind. –S. N. Dass Gupta–A History of Indian Philosophy —Vol. I, P. 20–Printed–1922.

४. एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्ये अर्थे मुख्यतात्पर्यमस्ति॥

५. तदेवब्रह्मसर्वत्रवेदवाक्येषुसमन्वितं प्रतिपादितमस्ति – ऋग्वेदादिभाष्य – पृष्ठ ४६ – ऋग्वेदादिभाष्य० वे० बि० च० संवत् २००८ – पृष्ठ ५० पर।

समस्त वेद जिस के गीत गाते हैं वह ओ३म् है।[1] इतना ही नहीं अपितु वेदान्त दर्शन भी यह स्वीकार करता है कि वेदों में ब्रह्म का वर्णन पाया जाता है।[2] वास्तव में वेदों में जिस ब्रह्म का वर्णन हुआ है, वह ऐसा नहीं है कि उस से अधिक शक्तिशाली और कोई देव हो अपितु यह देवों का देव है और सर्वशक्तिमान् है। वह सर्व-व्यापक, सर्वज्ञ, सर्वान्तिर्यामी आदि विशेषणों से युक्त है। एकेश्वर-वाद का वेदों में जितना स्पष्ट और सुन्दर वर्णन हुआ है संभवतः अन्यत्र ही हुआ हो फिर भी पश्चिमी विद्वानों ने यह तर्क कैसे दे दिया कि एकेश्वरवाद की मान्यता आर्यों में द्रविड़ लोगों से आयी है। बिना किसी ठोस प्रमाण से कहना केवल कल्पना मात्र है। अतः दयानन्द के अनुसार वेदों में बहुदेवतावाद या हीनोथियिज्म इन दोनों में से एक भी नहीं है। मैक्समूलर की इस विचार धारा का खण्डन की स्वयं ठोस प्रमाणों से हो जाता है कि कैथोयिज्म एक देवता के बाद दूसरे को उपासना अथवा हीनोथियिज्म अर्थात् पृथक् २ देवताओं की पूजा।[3] इस सम्बन्ध में दयानन्द की धारणा है कि यहां 'देवता' शब्द के अर्थ का अनर्थ किया है। यहां पर देवता शब्द से ईश्वर का ग्रहण नहीं करना चाहिये।[4] निरुक्ताकार

---

१. क्वचित् साक्षात्क्वचितपरम्पराच। अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति। वही पृष्ठ।

२. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति – कठो० १।२।१५ ॥
तत्तुसमन्वयात् – वे० १।१।४ ॥

३. It was necessary, therefore, for the purpose of accurate reasoning to be have a name different from plytherism, to signify this worship of singlegods, each accupying for a time as presence position and proposed for it is the name of Kathenotheism that is worship of on God often another or of Menotheism, the worship of single God.
–'Max Muller' India what can it teach us p.145-14-1892.

४. यह उन वेदज्ञों की भारी भूल है जो देवता शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हैं। सत्यार्थप्रकाश पृ० १७५। इसी अध्याय के

देव शब्द की व्युत्पत्ति करता है कि देवोदानाद्वा, दीपनाद्वा द्योतनाद्वा, द्युस्थानोभवतीति वा,[1] अर्थात् दान देने से देव है, प्रकाश करने से देव है, उपदेश वा पालनादि करने (माता-पिता) देव है, द्युस्थान का भी जो प्रकाशक है वह देव है। अतः स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि वेदों में एक ही ईश्वर की उपासना का विधान है।

उपनिषदों में एक ईश्वर का प्रतिपादन—

वेदों की तरह उपनिषदों में भी ईश्वर के अनेक नाम आये हैं। जैसे दयानन्द ने ईश्वर का मुख्य नाम ओ३म् बतलाया है, उपनिषदों में भी ओ३म् शब्द ईश्वर के मुख्य नाम के रूप में अनेकों स्थलों पर आया है। इसी प्रकार ब्रह्म शब्द, मायाविन् आदि नाम एक ही ईश्वर के आये हैं। इन नामों की विशेष व्याख्या और ईश्वर के स्वरूप आदि की विवेचना तो आगे की जायेगी यहां केवल उपनिषदों में आये ईश्वर बाचक शब्द दिये जा रहे हैं ताकि वेद और उपनिषदों के ईश्वर का साम्य देख सकें। उपनिषदों के ये नाम वेदानुसार हैं और प्रायः उसी प्रकार हैं जैसे वेदों में हमने देखा कि बहुदेतवाद का खण्डन कर एक ईश्वर की स्थापना की गई है। वेदों की भांति उपनिषदों में यही कहा है कि वह परम ब्रह्म बहुत नामों से कहा जाता है। जैसे श्वेताश्वेतरोपनिषद् में कहा है कि उसी को अग्नि, उसी को आदित्य, वायु, चन्द्रमा, आप आदि विभिन्न ईश्वर के ही नाम हैं।[2] यह ओ३म् ही अविनाशी ब्रह्म है। यही सब का आलम्बन है।[3] इसी ओंकार का जप करने से ही, ब्रह्म की

प्रारम्भ में हमने देवता शब्द का वास्तविक अर्थ बतला आये हैं।

१. निरुक्त — देवताकाण्ड — ७।१ ।।

२. तदेवाग्निस्तदादित्य — श्वेता० ४।२।

३. एतध्येवाक्षरं ब्रह्म एत ध्यमेवाक्षरं परम् ।
— कठो० १-२-१६-१७ ।

प्राप्ति हो जाती है।[1] यह ओ३म् अक्षर ही सब कुछ है। यह सम्पूर्ण जगत् का उपाख्यान है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान में ओंकार ही है।[2] प्रश्नोपनिषद् में भी कहा है कि हे सत्काम निश्चित है कि यह ओंकार ही ब्रह्म है इसी को पर, अपर भी कहते हैं।[3] फिर आगे कहा है कि यह ओ३म् ही ब्रह्म है।[4] जिसे तप और ब्रह्मचर्य से जाना जाता है, वह ओ३म् ही है।[5] वह बिना पैर के चलता है बिना आँखों के देखता है।[6] ब्रह्म संसार की सभी वस्तुओं से अति सूक्ष्म है। तथा सर्वत्र आकाश के समान व्यापक हैं। उपनिषदों में ब्रह्म को भोग प्रदान करने वाला कहा है। और जीवात्मा को भोक्ता माना गया है। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट उद्घोषणा की है कि दो सुन्दर परों वाले पक्षी हो प्रकृति रूपी वृक्ष पर विराजमान हैं। एक उस वृक्ष के फलों का आस्वाद लेता है दूसरा तटस्थ भाव से साक्षी के रूप में अवलोकन कर रहा है।[7] इस पर दयानन्द का

१. स भूयं एवेन्धनयनोनिगृह्यस्तद्धोभयं वै प्रणधेन देहे।
— श्वेता० १।१३।

२. य ओमित्येतदक्षरमिदो सर्वं।
— सर्वओंकार एवत्माण्डुक्य – १।

३. एत द्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदो ओंकार।
—प्रश्नो० ५।२।

४. ओमिति ब्रह्म······तैत्तिरीय० १-८।

५. तते पदं संग्रहणे ब्रवीम्योमित्येतत् – कठो० १।२।१५।

६. अपाणिपादों जवनो गृहीतो पश्यत्यचक्षु।
तमाहुरग्रयं पुरुषं महत्तम्। श्वेता० ३।१९।

७. द्वा सुपर्णा सुयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योअभिचाकशीति ॥
मु० उ० ३।१।१॥

नोट—ईश्वर के सम्बन्ध में सैकड़ों प्रमाण उपनिषदों में आये हैं। यहां तो केवल वेद की तुलना के लिए अल्प ही प्रमाण दिये हैं।

अर्थं द्रष्टव्य है—इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह वृक्ष रूप संसार में पाप-पुण्य रूप फलों को अच्छी प्रकार भोगता है। और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोगता हुआ चारों और अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है।[1] इससे अगले मुण्डकोपनिषद् के ही वचन में स्पष्ट कहा है कि इस प्रकृति रूपी वृक्ष पर भोक्ता जीवात्मा निमग्न है। प्रकृति की नाना प्रकार की मोहात्मक शक्ति से मोह अर्थात् राग को प्राप्त हो रहा है। जो वीतराग योगी अपने आत्मा को निर्मल कर परमात्मा को अपने से भिन्न साक्षात्कार करता है तब वह जीवात्मा उसकी अनन्त महिमा और दिव्य सृष्टि का दर्शन करता है तो शोक से रहित हो जाता है।[2] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों में भोक्ता जीवात्मा और भोग्या प्रकृति तथा इन पर शासन करने वाला व्रह्म का व्याख्यान पाया जाता है। ब्रह्म सर्वत्र, विभु, सर्वशक्तिमान, सृष्टि रचयिता, पालन कर्त्ता व संहर्ता है। जीवात्मा अल्प शक्ति वाला अणु तथा परिच्छिन्न है। कर्म में स्वतंत्र परन्तु फल भोगने में परतंत्र है। प्रकृति अचेतन परिणामी एवं जगत् का उपादान कारण है।[3] जो श्रुतियां उपनिषदों में द्वैतवाद का प्रबल समर्थन करती है, उनको अद्वैतवादी यह कहते हैं कि ये व्यवहारकाल की श्रुतियां हैं। उपनिषदों में इस तथ्य का संकेत प्रायः नहीं है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या उपनिषदों में सृष्टि रचना का वर्णन नहीं है। यदि सृष्टिका वर्णन है तो मिथ्या क्यों कहा जाय। पार

---

१. सत्यार्थ प्रकाश — स० ७।

२. समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोअनीशयाशोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्य मीशस्य महिमानमीति वीतशोकः॥
मु० उ० ३।१।२॥

३. आचार्य द्विजेन्द्र नाथ शास्त्री—इन मंत्रों पर स्वामी ब्रह्ममुनि, आर्य मुनि, शंकरदेव, काव्यतीर्थ, संस्कृत साहित्य विमर्श पृष्ठ १५ आदि का भाष्य द्रष्टव्य है।

मार्थिक और व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करने का आधार क्या है? आचार्य शंकर ब्रह्म को समझाने के लिए इस संसार का आश्रय लेते हैं फिर संसार मिथ्या और ब्रह्म पारमार्थिक कैसे हुआ। अर्थात् मिथ्या से पारमार्थिक सत्ता सिद्ध कैसे की जा सकती है। वास्तव में व्यावहारिक स्तर में जो अद्वैतवादी भेद मानते हैं। उससे दयानन्द की त्रैतवादी या यथार्थवादी विचारधारा को ही बल मिलता है। दयानन्द के अनुसार उपनिषदों में ब्रह्म को संसार का रचयिता कहा है। जिससे समस्त महाभूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर उसी में रहते हैं। प्रलयावस्था में नष्ट होकर ब्रह्म के गर्भ में (अव्यक्तावस्था) चले जाते हैं।[1] इसी कारण दयानन्द ब्रह्म को निमित्त कारण मानते हैं। जैसे तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा कि पहिले सब असत् अर्थात् प्रकृति थी उससे सत् अर्थात् व्यक्त हुआ वह अव्यक्त से व्यक्त ब्रह्म ने ही किया है।[2] अभी हम पीछे यथार्थवादी उपनिषदों के प्रमाण पीछे देकर स्पष्ट कर आये हैं। मैक्समूलर की धारणा हैं कि उपनिषदों में सृष्टि का वर्णन जितने यथार्थवादी ढंग से पाया जाता है, उससे कोई भी अनुभव कर सकता है कि इनमें भ्रमवाद को कहीं भी स्थान नहीं है।[3] वास्तव में उपनिषदों में सृष्टि रचना का वर्णन जिस रूप में किया है वह विशुद्ध यथार्थवादी है। दयानन्द का कहना है कि उपनिषदों में आचार्य शंकर के मायावाद का वर्णन कहीं भी नहीं मिलता है। यह तो है कि माया शब्द उपनिषदों में आया है, परन्तु

---

१. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तै० उ० भृगुवल्ली – अनु० १॥

२. असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।
तदात्मानंस्वयमकुरुत। तै० उ० ब्रह्मानन्द व अनु० ७ मं० १।

३. This Idea that the World is only Maya and illusion, avision a nothing was that cole brooks meant when he said it was absent from the Upanishadas as the original Vedanta Philosophy and so far he is right.
—The Vedanta Philosophy p. 70-Max Maller.

यहां माया आचार्य शंकर की माया नहीं है अपितु माया का अर्थ प्रकृति है। श्वेतश्वेतरोपनिषद् में स्पष्ट कहा है माया को प्रकृति जानों।[1] सांख्य दर्शन की प्रकृति और उपनिषदों की माया एक ही प्रतीत होती है। इसलिए सांख्य दर्शन अपने प्रकृति के परिणामवाद को श्रुति सम्मत बतलाता है।[2] हाँ इतना अवश्य कहा है कि ब्रह्म नित्यों का नित्य है अर्थात् जीव और प्रकृति इन नित्य तत्वों का स्वामी अनादि ब्रह्म है।[3]

डा० राधाकृष्णन् का मत है कि उपनिषदों की यथार्थवादी विचारधारा से, आगे चलकर सांख्य शास्त्र को भी बल मिला है।[4] अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदें मायावादी न होकर यथार्थवादी हैं।

वेद में प्रलयावस्था की स्थिति में प्रकृति का प्रस्तुतिकरण—

सृष्टि का निर्माण होने से पूर्ण प्रलयावस्था में प्रकृति किस अवस्था में थी, उसका क्या रूप था ? सृष्टि निर्माण किसने किया इत्यादि प्रश्नों का उत्तर वेदों में गम्भीरता से दिया गया है। ऋग्वेद के नासदीय सूक् में इस दार्शनिक समस्या का समाधान बड़ी ही तात्विक दृष्टि से किया गया है। पश्चिमीय विद्वान् मैनेसमूलर जो वेदों को ऋषियों द्वारा विरचित स्वीकार करते हैं, इस नासदीय

---

१. मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥ श्वेता० ४।१०॥

२. श्रुतिरपि प्रधान कार्यत्वस्य – सांख्य० सू० ५।२॥

३. नित्यो नित्यानां चेतनाश्चेतनानामेको बहूनां यो विदयतिकामान्। —श्वेता० ६।३॥

४ The realistic tandsncies the Upanishaes receive emphesis in the Samkhye conception of the Unive as.
–Indian Philosophy–Vol.2–p. 250 by Dr.Radha Krishnan.

सूक्त के विषय में उनका कहना है कि इस सूक्त को परमात्मा ने ऋषियों पर अवतरित किया है। इस सूक्त के कुछ मंत्रों का विवेचन करना यहां उचित जान पड़ता है।

१. उस समय अर्थात् प्रलयकाल में न असत् तथा न सत् था और न ही परमाणुओं से भरा अन्तरिक्ष भी था। उस समय कहां क्या आच्छादित था ? किसके आश्रय से था ? और क्या बहुत अधिक गम्भीर बल था।[1]

२. तब उस समय न मृत्यु थी तथा न किसी प्रकार का जीवन था, रात्रि और दिवस भी नहीं था। वह एक (परमात्मा) अपनी शक्ति से स्वधा-प्रकृति के साथ बिना किसी प्राणवायु के प्राणयन कर रहा था उससे परे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं था।

३. उस समय अन्धकार से व्याप्त अव्यक्त प्रकृति थी और यह सब अज्ञेय अवस्था में जल के समान एकाकार था। जो तुच्छ था (ब्रह्म के सम्मुख प्रकृति तुच्छ है) वह परमात्मा के तप से एक अर्थात् व्यक्त सी होने लगी। यहां दयानन्द का अर्थ द्रष्टव्य है।[4]

---

१. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं द्रजोनो व्योमाऽपरोयत्।
किमारीव कुहकस्यशर्म्मन्नम्भः किमसीद्गहनं गम्भीरम्॥
ऋ० १०।१२६।१॥

२. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हिनरात्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवानं स्वधयातदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचास॥
ऋ० १०।१२६।२॥

३. तम आसीतमसा गूढतमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छयेनाम्बपिहितं यदासीत्तपस्तनमहिना जायतैकम्॥
ऋ० १०।१२६।३॥

४. यदाकार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत्तदाउघत् सृष्टे प्राक् शून्यमाकाशमपि नासीत्। कुतः तद्व्यवहारस्य वर्तमानाभावात् तस्मिन् काले सत् प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं, सत् सत्सञ्ज्ञकं यज्जगत्कारण

१. इस प्रलयावस्था के समय मन का रेतः जो पहले था उसके ऊपर काम अर्थात् संकल्प हुआ मनीषी लोगों ने जान लिया कि इस असत् में सत् छिपा हुआ था[1]।

२. इन तीनों का किरण तिरछा फैला, नीचे भी आश्चर्यकारी था और ऊपर भी आश्चर्यजनक, वीर्य के धारण करने वाले थे, इधर आत्मा को धारणा शक्ति थी और पूरे प्रयत्न का बल था।[2]

३. वस्तुतः कौन जानता है और कौन कह सकता है, कहां से निर्माण हुआ और कहां से विविध प्रकार की सृष्टि हुई है। देव (अर्थात् विद्वान् या सूर्यादि दिव्य पदार्थ) भी बाद में ही बने हैं। अब कौन यह जान सकता है कहां से यह सृष्टि निर्मित हुई है।[3]

४. जिससे यह विविध प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई है वही इसका धारण करता है। यदि न करे तो (सृष्टि विनष्ट हो जाय) यहां पर वा निश्चय के अर्थ में है। जो परम व्योम है इसका अध्यक्ष है हे मित्र ! उसको जान, यदि उसको न जानेगा तो तो महती हानि होगी। (इन उपरोक्त मंत्रों का अर्थ ऋग्वेदादिभाष्यूमिका और पं० जयदेव विद्यालंकार के भाष्यानुसार लिए गये हैं)।[4]

तदपि नो आसीन्नावतेत्...किन्तु पर ब्रह्मणः......परमकारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्तत ॥

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—सृष्टि विद्या विषय—पृष्ठ १३१ आठवीं बार—संवत्—२००८) ॥

१ कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतोबन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्य काव्यो मनीषा ॥
ऋ० १०।१२६।४ ॥

२. तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विददासीदुपरि स्विदासी इत्।
रेतोधाआसन्महिमान आसन्त स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥५

३. को अद्धावेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिं ॥
अर्वाग् देव स्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव ॥६॥

४. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे वाम।

कुछ आधुनिक विद्वान् जिन पर आचार्य शंकर का प्रभाव है, अद्वैतवाद का संकेत इसी सूक्त से ढूंढ़ने का प्रयास करते हैं। यहां चिन्तनीय यह है कि सर्वप्रथम मंत्र में सत् और असत् दोनों का ही उस अवस्था में होने को खण्डन किया है। यदि इस मंत्र में यह होता कि सृष्टि के पूर्व केवल सत् ही था कुछ भी नहीं था, तब तो आचार्य शंकर के सिद्धान्त का प्रतिपादन समुचित जान पड़ता। क्योंकि आचार्य शंकर के अनुसार तो सत् का कभी बाध होता ही नहीं है। परन्तु वेद तो न सत् को मानता है और न वह असत् को ही मान्यता देता है। इसलिए इसका अभिप्रायः यही उचित प्रतीत होता है कि सत् का अर्थ यह कार्य रूप जगत् नहीं था। और असत् का अर्थ है अभाव। अर्थात् पूर्णतः अभाव भी नहीं था अपितु कारण प्रकृति अव्यक्तावस्था में थी। ईश्वर अपनी ईक्षण शक्ति से ही उसमें गति देकर क्षोभ उत्पन्न कर देता है। चिन्तनीय है यहां पर आचार्य सायण का अर्थ भी इस मंत्र पर शशविमान के समान निरूपाख् नहीं था और सद्रूप से निर्वाच्य था किन्तु दोनों से विलक्षण अनिर्वाच्य था।[2] यहां पर स्पष्टरूपेण सायण आचार्य पर शंकर का प्रभाव हे। परन्तु सायण संभवतः यहां पर आचार्य शंकर के सत् शब्द के अभिप्रायः को ओझल कर न सत् इसका अर्थ उसके

यो अस्याध्यक्षा परमेव्योमन्त्सो अंग योद यदि वा न वेद ॥
१०।२६।७ ॥

१. "त्रिकालाबधितं सत्"—शांकर भाष्य—ब्रह्मसूत्र ॥

२. जगतो मूल कारणं तद्सच्छशशविषाणवन्निरूपाख्यं नासीत्... नो सन्भैवसदात्मवत्सत्वेन निर्वाच्यमासीत्...... उभयविलक्षण-मनिर्वाच्यमेंवासीत्। ऋग्वेद संहिता १०।११।१२६।१ — चतुर्थ खण्ड — सायण ॥ भाष्य ॥ मेक्समूलर सम्पा० चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला वाराणसी — १९६६ (इस प्रकार अज्ञान भावरूप है। अर्थात् आकाश कुसुम के समान अभावरूप नहीं है। उपर्युक्त का यह भाव है।)

सत् शब्द के अर्थ के विपरीत कर गये हैं। जब सायण शशविषाण के समान संसार के मूल कारण का अभाव नहीं स्वीकार करते हैं तो स्पष्ट रूप से प्रकृति को क्यों नहीं माना जाय, अनिर्वाच्य उसे क्यों कहा जाय ? वेदों में सृष्टि रचना का वर्णन बहुत ही दार्शनिक रूप में प्रस्तुत किया गया है 'द्वा सुपर्णा सयुजासखाया'[1] यह मन्त्र ऋग्वेद में भी आता है। उपनिषदों में भी इसी प्रकार आया है। इसका अर्थ हम इसी अध्यय में कर आये हैं। अर्थात् दो पक्षी सुन्दर गतिशील प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठे हैं। एक उदासीन भाव, से देख रहा है। दूसरा इस प्रकृति रूपी वृक्ष के फलों का आस्वाद ले रहा हैं। जो आस्वाद ले रहा है वह सुख दुःख रूपी उसके परिणाम को भोगता है। दूसरा नहीं। यहां पर प्रकृति की उपमा वृक्ष से दी गयी हैं।

वेद और उपनिषदों ने सृष्टि का अध्यक्ष ईश्वर को माना है। नासदीय सूक्त के अतिरिक्त यजुर्वेद के पुरुष सूक्त और अथर्ववेद के 'स्कम्भ' सूक्त में सृष्टि रचना का वृतान्त पाया जाता है। पुरुष सूक्त में इक्कीस प्रकार की सामग्री से ब्रह्माण्ड की रचना बताई गई है। एक श्लोक के चारों ओर सात २ परिधियों का निर्माण किया।[2] आगे सूर्य चन्द्रमा की रचना दिखलाकर प्राणियों के शरीर की रचना का वर्णन है। इसी प्रकार अथर्ववेद में भी प्रश्नों द्वारा सृष्टि रचना का वर्णन उपलब्ध होता है।

इस प्रकार हमने देखा कि दयानन्द वेदों और उपनिषदों में प्रकृति को बतलाकर इन ग्रन्थों को यथार्थवाद की शिला पर

---

१. ऋग्वेद – १।१६४।२ ।।

२. एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टि बल और जल से ऊपर एक प्रकार का वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिस को धनंजय कहते हैं। सातवां सूत्रात्मवायु जो धनन्जय से भी सूक्ष्म है ये सात परिधि कहाते हैं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का सृष्टि रचना विषय।

स्थापित कर देते हैं। आचार्य शंकर ने उपनिषदों की प्रत्ययवादी (अद्वैतवादी) व्याख्या की है। उपनिषदों की वहीं दार्शनिक व्याख्या समुचित हो सकती है जो वेदों की व्याख्या से भी सहमति रखती हो। हम पीछे सिद्ध कर आयें हैं कि उपनिषदों वेदों को स्वतः प्रमाण के रूप में स्वीकार करती है। दयानन्द के अतिरिक्त वेदों में प्रकृति के अनादित्व को डा० राधाकृष्णन् जैसे उद्‌भट्ट विद्वान् स्वीकार करते हैं[1] परन्तु उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि वेदों में स्पष्ट रूप से यथार्थवाद का निरूपण किया है।

दयानन्द के यथार्थवाद का आधार उनकी वेदो के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी मान्यता है जो उन्होंने नवीन भाष्यशैली द्वारा प्रदान की है। वेद केवल संस्कारों एवं धार्मिक कृत्यों की पुस्तक है इस मान्यता का खण्डन होकर वेद मानव समस्याओं के समाधन की पुस्तक सिद्ध हो जाती है।

समालोचना

वेद का ज्ञान ईश्वरप्रदत्त है इसमें आचार्य शंकर, रामानुज और दयानन्द तीनों एक मत के हैं। दयानन्द ने वेदों का भाष्य इस यथार्थवादी युग में किया है जब कि आचार्य शंकर के दर्शन का प्रारम्भ बौद्ध दर्शन के खण्डन से प्रारंभ होता है। वैदिक मान्यताएं लुप्त होती जा रही थीं। बौद्ध विद्वान् केवल इस जगत् में जीवन यापन को प्रमुखता दे रहे थे। ब्रह्म का महत्व एवं उसकी मान्यता समाप्त, बौद्ध दार्शनिक कर रहे थे। संभवतः आचार्य शंकर ने इस प्रतिक्रिया में ईश्वर को ही सब कुछ कहा हो और प्रकृति का खण्डन किया हो, यह उस युग की आवश्यकता समझी हो। स्वामी दयानन्द का प्रादुर्भाव यथार्थवादो प्रादुर्भाव के साथ-साथ हुआ है। दोनों

---

१. Inx. 121–We have an account of the creation of the world by an omnipotent God out of preexistent matter.–Indian Philosophy–Vo. 1–p. 100-by Radha Krishanan –Reprint–Indian Edition–1951.

दार्शनिकों की मान्यता अपने-अपने युग के अनुरूप कही जा सकती हैं परन्तु वेद के भाष्य के द्वारा दयानन्द ने भारतीय संस्कृति को विश्व के सम्मुख चमत्कृत रूप में अवश्य रखा है। यही कारण है कि इस वैज्ञानिक युग में भी वेदों के अनुसन्धान की प्रवृत्ति आज विश्व में बढ़ रही है।

दयानन्द की दार्शनिक क्रान्ति का प्रभाव यह भी दृष्टिगोचर हो रहा है कि समस्त भारतीय वांगमय जो परस्पर विरोधी सा प्रतीत होता था आज समन्वयात्मक दृष्टिकोण से विद्वान् अलौकिक करने लगे हैं।

इस अध्याय में आचार्य शंकर से सत् शब्द के अर्थ की मीमांसा की गई है। सत् का अर्थ वे व्यावहारिक दृष्टि से भी करते हैं परन्तु व्यवहार काल की वस्तुएं तात्विक दृष्टि से उन के मत में सत् नहीं मानी है क्योंकि माया को अद्वैतवादी दार्शनिक सत्-असदभ्यां अनिर्बचनीय कहते हैं। जगत् की वस्तुओं के विषय में वे मिथ्या शब्द का प्रायशः प्रयोग करते हैं। इस दृष्टि से उक्त सूक्त में सत् शब्द की समीक्षा अपेक्षित है।

आचार्य शंकर भी अपने युग के प्रतिनिधि दार्शनिक हैं। उन के दार्शनिक विचारों की सूक्ष्मता अत्यधिक प्रभावित करती है। उन के दर्शन के वे सिद्धान्त जिन का प्रत्याख्यान पर्याप्त मात्रा में किया है, परन्तु उन की वह दार्शनिक चेतना की प्रतीति आज भी विद्य-मान है। दर्शन के क्षेत्र में उन का योगदान किसी दार्शनिक से कम नहीं है।

वेद और उपनिषद् को एक स्थान पर रख कर समन्वात्मक दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो यथार्थवाद स्वतः मुखरित हो उठता है।

उपनिषदों में कहीं कहीं कहीं अद्वैत की सी गन्ध अवश्य आती है। अर्थ तत्व की दृष्टि से अर्थ को सगति लगाने में कठिनाई भी

अवश्य होती है परन्तु यह संगति लगाने की समस्या अद्वैतवादी मत मानने पर भी कहीं अधिक प्रतीत होती है। यथार्थवादी उपनिषद् श्रुतियों का एक ही उपचार से निदान करना कि ये श्रुतियां व्यवहारकाल की हैं, ऐसा हेतु एवं मूल उपनिषदों के अन्तःसाक्षी के अभाव में मानना तर्क संगत नहीं है अपितु मूल उपनिषदों के दार्शनिक नवनीत को दूषित करना मात्र है।

तृतीय अध्याय

ब्रह्म निरूपण

आचार्य शंकर का मत—

जगत् की रचना और उसके कारणों को लेकर दार्शनिक जगत् में विवाद है। ब्रह्म को जगत् का कौन सा कारण स्वीकार किया जाव यह गम्भीर चिन्तन का विषय है। सामान्यत: विश्व की दृष्ट वस्तुओं के निर्माण में तीन कारणों को स्पष्टत: स्वीकार किया जाता है। प्रथम कारण निमित्त कारण, द्वितीय उपादान, तृतीय साधारण कारण है। जैसे घट का निर्माण हमारे समक्ष प्रत्यक्ष कुम्भकार करता है। वह मृत्तिका को गर्दभ आदि में लाकर एकत्रित करता है। जलादि को विशेष मात्रा में मिश्रित कर के चक्रादि की सहायता से घट का निर्माण करता है। इस घट के निर्माण में निमित्त कारण कुम्भकार, मृत्तिका उपादान कारण और चक्रादि साधारण कारण है। प्राय: दृष्ट वस्तुओं का इन्हीं तोन क.रणों से सर्वत्र निर्माण दृष्टिगोचर होता हैं। यदि उक्त दार्शनिक चिन्तन को समीचीन माना जाय तो स्पष्ट है कि इस विश्व की सृष्टि रचना में ब्रह्म[1] निमित्त कारण, प्रकृति उपादान कारण और जीवादि साधारण कारण हैं।

दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में यह सर्वविदित है कि विश्व रचना के कारणों में भारतीय मनीषियों में मतभेद रहा है। उपनिषदों के भाष्यकारों में भी यह मतभेद स्पष्ट रूप से उभर कर आया हैं। वेदान्त दर्शन, उपनिषद् और गीता के प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य शंकर का मत सर्वविदित है कि ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण नहीं है क्योंकि आचार्य शंकर ब्रह्म में कतृत्व आदि गुणों

---

१. महर्षि दयानन्द ईश्वर और ब्रह्म को पर्याय स्वीकार करते हैं।

को स्वीकार नहीं करते हैं। यदि ब्रह्म को सृष्टि रचना का निमित्त कारण माना जाय तो ब्रह्म में कर्तृत्वादि गुणों को स्वीकार करना होगा। उन के मत में ब्रह्म को निमित्त कारण मानने पर दूसरी आपत्ति यह आती है यदि ब्रह्म केवल निमित्त कारण है तो सृष्टि रचना के लिए उपादान कारण प्रकृति को भी स्वीकार करना पड़ेगा जो उन को अमान्य है। आचार्य शंकर ब्रह्म में कोई भी कर्तृत्वादि गुण स्वीकार न करने पर भी ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादन कारण स्वीकार करते हैं।

जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति स्पष्ट रूपेण होती है। हम यह ज्ञान प्राप्त करते हैं कि यह सर्प है, उस से भयभीत होते हैं। इसी प्रकार आचार्य शंकर और उस के अनुयायी शुक्तिका में रजत की प्रतीति का उदाहरण देते हैं। रज्जु सर्प का निमित्त कारण भी है और उपादान भी है। अतः रज्जु सर्प का अभिन्न निमित्तोपादान कारण सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार शुक्तिका और रजत के उदाहरणों में भी जान लेना चाहिये। उपर्युक्त दृष्टान्तों के अनुसार ब्रह्म भी जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। ऐसा सिद्ध करने के लिए वे अध्यास का आश्रय लेते हैं। उन का कथन है कि स्मृतिरूप पूर्व दृष्ट का अन्य में (अधिष्ठान में अवभास प्रतीति) वही अध्यास है। कुछ लोग एक दूसरे के धर्म के आरोप को अध्यास मानते हैं।[1] जैसे शुक्तिरूप अधिष्ठान में अज्ञान से कल्पित होने के कारण रजत अध्यस्त है अथवा रज्जुरूप अधिष्ठान में अज्ञान कल्पित सर्प अध्यास को दो प्रकार का स्वीकार किया जाता है। स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास।[2] जब अज्ञान समाप्त हो जाता है तो हम कहते हैं कि

---

१. स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।
तं केचित् अन्यत्रान्यधर्माध्यासः। (ब्रह्मसूत्र – शांकरभाष्य – सत्यानन्द ग्रंथमाला – पृष्ठ ४)।

२. जैसे कि "शुक्तिमिदंरजतम्" (शुक्ति में यह रजत है, यह रजत्शुक्ति ने स्वयं से ही अध्यस्त हैं, क्योंकि भ्रमकाल से पहले

यह सर्प नहीं, अपितु रज्जु है। जिस अधिष्ठान में जिस वस्तु का अध्यास होता है, उस के गुण अथवा दोष से वह अणुमात्र भी सम्बन्धित नहीं होता है। जैसे कि रज्जु के गुण सर्प में नहीं आते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म रूप अधिष्ठान में जगत् अध्यस्त है तो ब्रह्म के भी गुण जगत् में नहीं आयेंगे। यह मान कर आचार्य शंकर ने उपादान कारण के गुण कार्य में आते हैं, इस दोष से ब्रह्म को बचाने का प्रयास किया, ऐसा प्रतीत होता है। ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान सिद्ध करने के लिए उन्होंने मुण्डकोपनिषद् का प्रमाण प्रस्तुत करते हुये कहा है कि जैसे मकड़ी अपने में से जाला उत्पन्न करती है और अपने में समेट लेती है ठीक इस प्रकार इस ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न हुआ है और इसी में लीन हो जायेगा।[1]

ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य में उपनिषदों के प्रमाणों द्वारा शंकर ने ब्रह्म को ही जगत् का कारण सिद्ध करने के साथ उपनिषदों के भाष्यों में भी ब्रह्म का उसी प्रकार का वर्णन किया है। उन की मान्यता है कि व्यष्टिगत चैतन्य की संज्ञा आत्मा और समष्टिगत चैतन्य की संज्ञा ब्रह्म है। आत्मा और ब्रह्म में अद्वैत है।[2] ब्रह्म शब्द का मूल अर्थ है – बृहत्[3] – अर्थात् महान् होने के कारण निर-

---

वहां रजत नहीं है। केवल भ्रमकाल में नूतन अनिर्वचनीय उत्पन्न होता है और (नेदं रजतम्) यह रजत नहीं है। अतः ज्ञान से बाध होता है। वह स्वरूप से अध्यस्त है। इस प्रकार शुक्तिका अध्यस्त रजत् के साथ संसर्गाभ्यास है॥ (शंकर भाष्य पर सत्यानन्दी दीपिका – पृष्ठ ५)।

१. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च यथापृथिव्यामोषधयः संभवति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथा अक्षरात् संभवतीहविश्वम्॥
मुण्डको० १।७॥

२. स वा अयं आत्मा ब्रह्म – बृहदारण्यक ४-४-५॥

३. बृहत्वाद् ब्रह्म (यहां धात्वर्थ है) अर्थात् महान्॥

पेक्ष परमसत्य ब्रह्म ही है। आचार्य शंकर तैत्तिरीयोपनिषद् का भाष्य करते हुये लिखते हैं कि ब्रह्म जिसका लक्षण है कि वह महान् है। उसे जो जानता है वह ब्रह्मवित् कहलाता । ब्रह्मवित् उस परम निरतिशय ब्रह्म को किसी अन्य की प्राप्ति नहीं हुआ करती है। वह जो कि निश्चय ही उस पर ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है।[1] ब्रह्म सर्वातिशय अर्थात् सबसे बड़ा उस से महान् कोई नहीं है। जिन उपनिषद् वचनों से आचार्य शंकर केवल ब्रह्म की ही सत्ता सिद्ध करते हैं उन में से मुख्य वचन इस प्रकार हैं– जैसा कि छान्दोग्य में कहा गया है कि जो समस्त है सब आत्मा ही है।[2] छान्दोग्य की मान्यता है कि आत्मा ही सब कुछ है। इसी विषय में मुण्डकोपनिषद् का कहना है कि सब से पहिले ब्रह्म ही अमृत है और ब्रह्म ही सब कुछ है ब्रह्म को छोड़ कर कुछ भी नहीं है।[3] जगत् में नाना कुछ भी नहीं है केवल ब्रह्म ही है।[4] आचार्य शंकर उपनिषदों के कुछ वचनों को महावाक्य नाम से कहते हैं। संभवतः महावाक्य यह नाम उन्हीं का दिया हुआ है। उन की मान्यता है कि इन महावाक्यों द्वारा भी ब्रह्म ही केवल निरपेक्ष[5] और परम सत्ता है। इन महावाक्यों का क्रमशः आचार्य शंकर के अनुसार अर्थ प्रस्तुत किया जाता है। सर्वप्रथम यह ब्रह्म ही था,

---

१. ब्रह्मविद्ब्रह्मेति वक्ष्यमाण लक्षणं–बृहत्तमत्वा ब्रह्मतद्वेति-विजानातीति–स यो वै ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति। "शंकर भाष्य"–तैत्तिरीयोपनिषद्–गीता प्रेस गोरखपुर पृष्ठ ६८ पर हिन्दी साहित्य-द्रष्टव्य)॥

२. इदं सर्वं यदयमात्मा–बृ० २।४।६ ॥

३. ब्रह्मैवेममृतं पुरस्तात् ब्रह्मैवेदं सर्वं। (मु० २।२।११)

४. आत्मैवेदं सर्वम्–छा० ७।२५।२ ॥

५. सर्वं खल्विदं ब्रह्म–छा० ६।१४।१–नेह नाना अस्ति किंचन –बृ० ४।४।१९ ॥

उसने अपने आप को जाना कि मैं ब्रह्म हूँ। अतः वह सर्व हो गया। उसे देवों में से जानने वाला वहतद्रूप हो गया। उसे आत्मरूप से देखते हुये ऋषि वामदेव ने जाना कि इस ब्रह्म को इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ।[१] इस वचन पर आचार्य शंकर भाष्य करते हुये कहते हैं कि यहां ब्रह्म शब्द से ऊपर ब्रह्म अभिप्रेरित हैं क्योंकि उसी में सर्वभाव का साध्यत्व संभव है। इससे आगे कहा गया है कि वह यह ब्रह्म अपूर्व (कारण रहित) अनपर (कार्य रहित) अनन्तर (विजातीय द्रव्य से रहित) और अबाह्य है। यह प्रात्मा ही सब का अनुभव करने वाला ब्रह्म है।[२] आचार्य शंकर इस वचन के भाष्य में कहते हैं कि वह निरन्तर ब्रह्म कौन है जो प्रत्यगात्मा द्रष्टा श्रोता, मन्ता, बोद्धा, अर्थात् जानने वाला और सर्वानुभू है। उस का न कोई कारण है, वह आत्मा हीं ब्रह्म है। अगले महावाक्य में कहा गया है कि पहले यह पुरुष आत्मा ही था। उसने आलोचना करने पर अपने से भिन्न कोई न देखा। उसने आरम्भ में अहमस्मि अर्थात् वह ब्रह्म मैं हूँ।[३] इस से अगले महावाक्य में भी इसी भाव को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि वह यह जो अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है। हे श्वेतकेतु वही तू है। इस पर शंकर का कहना है कि जिस आत्मा से यह समस्त जगत् आत्मवत् है वही सत संज्ञक है। कारण सत् अर्थात् परमार्थ सत् है।[४] अर्थात् वह आत्मा ही

---

१. ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेत् – अहं ब्रह्मास्मि इति। तस्मात्तसर्वमभवत् – बृ० १।४।१० ॥

२. तदेतत् ब्रह्मपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं–अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् (बृ० ५।१९) गीता प्रेस गोरखपुर से मुद्रित।

३. आत्मैवेदग्र आसीत् पुरुष......सोऽहमं अस्मीत्यग्रे व्याहरत् ततोऽहं नामभवत्। (बृ०१।४।१)।

४. स य एषअणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति। छा० ६।८।७ ॥

जगत् का प्रत्येक स्वरूप है सतत्व याथात्म्य है। जिस प्रकार गौ आदि शब्द बैल गाय आदि अर्थ में रूढ़ हैं उसी प्रकार उपपदरहित आत्मा शब्द प्रत्यगात्मा में रूढ़ हैं अतः हे श्वेतकेतु वह सत् तू है।[1]

वह यह जो समस्त गत् दृश्यरूप दिखलाई दे रहा है वह सब कुछ चिन्मात्र ब्रह्म है। जो निर्विशेष है वही परमार्थतः सत् है। उस के अतिरिक्त जितने भी ज्ञाता ज्ञेय आदि जो भेद हैं वे सब कल्पित और मिथ्या हैं।[2]

आचार्य शंकर ब्रह्म को किसी भी प्रकार से सविशेष स्वीकार नहीं करते हैं अर्थात् वे निर्विशेष और निर्गुण मानते हैं। निर्गुण शब्द से अभिप्राय है कि उस ब्रह्म में किसी भी प्रकार का गुण नहीं है अर्थात् वह ब्रह्म गुण विहीन है। वे वाक्य उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप को बतलाते हुए सविशेष रूप में बतलाते हैं। आचार्य शंकर उनका अर्थ विधेयात्मक न करके अपितु निशेधात्मक पद्धति से करते हैं। जैसा कि तैत्तिरीयांपनिषद् में ब्रह्म को सत्य; ज्ञान और अनन्त विशेषणों या गुणों वाला कहा है।[3] सत्य का अर्थ आचार्य शंकर करते हैं कि ब्रह्म असत्य नहीं है अर्थात् वह विकार रहित है।[4] इसी प्रकार ज्ञान का अर्थ भी उनकी दृष्टि में ज्ञान गुण नहीं अपितु उसमें अज्ञान नहीं और अनन्त का अभिप्राय है, वह

---

१. येन चात्मनात्मवतसर्वमिदं जगत्तदेव सदाख्यं कारणं सत्यं परमार्थसत्ता अतएव स एवात्मां जगतः प्रत्यंक स्वरूपं सतत्वं यथात्म्यम्। छा० ६।८।७ पर शांकर भाष्य।

२. अशेष विशेष प्रत्यनीकचिन्मात्र ब्रह्मैव परमार्थतः। तदतिरिक्त नानाविध ज्ञातृज्ञेय तत्कृतज्ञानभेदादि सर्वं तस्मिन्नेव परिकल्पितं मिथ्याभूतम्। वेदान्तसार-शांकरभाष्य। छा० ६।८।७ पर।

३. सत्यज्ञानानन्तं ब्रह्म—तैत्तिरीयोपनिषद् — ब्र० व० अनु. १।

४. अतः सत्यं ब्रह्मेति ब्रह्म विकारान्विवर्तयति — तै० उ० शांकरभाष्य — २।१॥

ब्रह्म सान्त नहीं है।[१] आचार्य शंकर ब्रह्म को पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म दो रूपों में मानते हैं। उनका कथन है पर ब्रह्म में स्वतः ही उभयलिंगत्व नहीं हो सकता। यह नहीं हो सकता कि एक ही वस्तु स्वतः ही स्वतः रूप आदि विशेषण वाली भी हो और इसके विपरीत भी हो।[२] आगे उन्होंने कहा कि अपर ब्रह्म का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता है। अर्थात् पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म दोनों का प्रतिषेध तो नहीं हो सकता है, अन्यथा शून्यवाद सिद्ध हो जाएगा।[३] जैसा कि हम ऊपर संकेत कर आये हैं कि आचार्य शंकर ब्रह्म को सभी विशेषणों से रहित और निर्विकल्प मानते हैं।[४] उनका स्पष्ट मत है कि उपनिषदें ब्रह्म को निर्विशेष ही स्वीकार करती हैं। ब्रह्म तो सब विशेषणों से रहित निर्विकल्प ही है। उन के मत में ब्रह्म को ऐसा ही उपनिषदों ने स्वीकार किया है।

रामानुज के अनुसार ईश्वर का स्वरूप और उसकी सिद्धि—

जीवन की जटिलताओं में व्यस्त नाना दुःखों से परिक्लान्त जीवात्मा आदि युग से किसो ऐसी सत्ता की तलाश में भटक रहा

---

१. द्रष्टव्य तैत्तिरीय उपनिषद् पर शांकर भाष्य ।।

२. न तावत् स्वतः एव परस्य ब्रह्मण उभयलिंगत्वमुपपद्यते । न ह्येकं वस्तु स्वतः एव रूपादि विशेषोपेतं तद् विपरीत चेत्यवधारयितुं शक्यं विरोधात् ।
(शांकरभाष्य – ब्र० सू० ३।२।११) ।।

३. न तावद् उभयप्रतिषेध उपद्यते शून्यवाद प्रसंगात् ।
—ब्र० सू० शांकरभाष्य – ३।२.२२.।।

४. अतश्चान्यतरलिंगपरिग्रहेऽपिसमस्त विशेषरहितं निर्विकल्पमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद् विपरीतं"'सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादन परेषु वाक्येषु खल्वेवमादिष्वपास्त समस्त विशेषमेव ब्रह्मनोपदिश्यते । ब्र० सू० शांकर भाष्य ।। वही ।

है जो उस के सभी दुःखों का एकमात्र समाधान हो। विभिन्न चिन्तकों ने ऋषियों ने वेदों के माध्यम से उस सत्ता का स्वरूप खोलने का प्रयास किया है एवं सफलता प्राप्त की है। रामानुज एक लम्बी परम्परा के पर्याय हैं। जो वेदों से लेकर अलाबार के सन्तों तक फैली हुई है। इसी अवान्तर में अनेक ऋषि, मुनि और दार्शनिकों ने यथासामर्थ्य उस परम-सत्ता का संधान किया है, जो विभिन्न रूपों में उन के विचारों के माध्यम से हमारे समक्ष आती है। किन्तु रामानुज का भाषित परिपूरित हृदय उस से संभवतः सन्तुष्ट नहीं हो पाता। वह ऐसी सत्ता के अनुसन्धान में व्याप्त होता है और उसे खोजता है, जो समस्त विचारों से दूर—सभी आदर्शतम गुणों का आकार एवं सभी जनों को सुलभ हो। इन सभी आदर्श भावनाओं की पूर्ति वे विष्णुभगवान में देखते हैं। वही ईश्वर है, वही परमात्मा है, वही परम ब्रह्म है। विष्णु किंवा परमात्मा को विशिष्टाद्वैत में कहीं वासुदेव कहा गया है और कहीं नारायण। जगत् के सभी पदार्थ उसी परमात्मा का नाम अभिधान करते हैं, क्योंकि वह सब में परिव्याप्त हैं।

लोकाचार्य ने ईश्वर के स्वरूप का कथन करते हुए कहा हैं—

ईश्वर समस्त क्षुद्रताओं से रहित, अनन्त, ज्ञानानन्दमात्र स्वरूप, ज्ञान-शक्त्यापि कल्याणकारी गुणों से अलंकृत समस्त जगत् के सृष्टि पालन, प्रलय के संयोजक, आर्ष, जिज्ञासु। विषयी और ज्ञानी—चारों प्रकार के जीवों के समाश्रय रूप, धर्म, अर्थ, मोक्ष, लाभ, चारों प्रकार के फलों के प्रदाता, विलक्षण शरीरवान् हैं।[1]

---

१. ईश्वरोऽखिलप्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्देकस्वरूपों ज्ञानशक्त्यादिकल्याणगुणविभूषितः सकलजगत्सृष्टि स्थितिसंहारकर्त्ता आप्तो जिज्ञासुरर्पापो ज्ञानी त्युक्तवर्तीविधपुरुषसर्माणीया धर्मार्थकाममोक्षाख्य चतुर्विधिफैलप्रदो विलक्षण विग्रह्यवेतो।

(तत्वत्र० पृष्ठ ८५)॥

वेदान्त देशिक ने अवान्तर रूप से ईश्वर के विषय में कहा है– सर्वेश्वर या सर्वव्यापक होते हुये चेतन, सब पदार्थों के शेष रूप, सारे कर्मों के समाराध्य, सर्वफलप्रदाता, सर्वाधार और सब कार्यों के उत्पादक अपने अर्थभूत ज्ञान तथा स्वयं के स्वरूप के अतिरिक्त सभी द्रव्यरूपी शरीरों में आत्म रूपेण भी समान तथा स्वतः जो सत्य संकल्प कहते हैं, वे ईश्वर हैं।[1]

ईश्वर सब का स्वामी और सब का शेषी अर्थात् पूरक है। जीव और जगत् उस के शरीर या प्रकार रूप हैं। वह उन सभी में आत्मभाव से रहता हुआ उन का नियन्त्रण करता है।[2] आचार्य रामानुज के अनुसार, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि सभी जड़ जगत् उस के द्वारा व्याप्त हैं। जीवात्मा भी उस से व्याप्त हैं। विशिष्टाद्वैत के अनुसार एकमात्र ब्रह्म हैं – जो सब में आत्मभाव से रहता हुआ, सबका नियामक है। यदि वह प्रकृति में व्याप्त होकर उस का नियामक न हो तो सृष्टि क्रम में एक अव्यवस्था दोष दिखाई देने लगे।

आचार्य रामानुज के अनुसार ब्रह्म जीवात्मा को कर्मों की प्रेरणा देता है, कर्म करने की सामर्थ्य देता है और अनन्तर अपने ईश्वरत्व के द्वारा उस के कर्मफलों का वितरण या नियमन करता है। अन्तर्यामी होने से भी उस को जीव के शरीरगत बालयौवनादि जागृति, सुषुप्ति और मूर्छा आदि तथा प्रकृति के विकार नहीं बांधते। वह सभी प्रकार के विकारों से रहित है। सर्वत्र व्याप्त परमात्मा दुःख-सुख का आश्रय भी नहीं बनता क्योंकि पाप-पुण्य

१. सर्वेश्वरत्वं व्यापकत्वे सति चेतनत्वं सर्वशेषित्वं, पूर्वकर्मसमाराध्यत्वं सर्वफलप्रदत्तं सर्वाधारत्वं सर्वकार्योत्पादकत्वं स्वज्ञानंस्वेतरसमस्तद्रव्य शरीरकत्वं स्वतः सत्यसंकल्पत्वादिकं वैश्वरलक्षणम्। (न्यायसिद्धा० ईश्वर परिच्छेद)॥
२. परस्यैव ब्रह्मणः सर्वात्मकं सर्वशरीरकत्वं सर्वनियन्तृत्वं च प्रतिपद्यते – श्रीभाष्य – १-२-१९॥

की परिभाषाओं में लिपटे कर्मों से वह सर्वथा अस्पृक् हैं। मुण्डकोपनिषद् भी है कि एक ही शाखा पर रहते हुए (जीवात्मा रूपी) पक्षी मधुर फलों का उपभोग करता है, जबकि दूसरा बिना खायें ही देखता रहता है।[1] वह सत्यकाम और सत्य संकल्प है। वह सब का नियमन करने से ही सर्वेश्वर है।[2] वह सर्वज्ञ है, उस का धर्म भूतज्ञान त्रिकालाबाधित अपरिवर्तनशील है। वह सब को तत्तत्कर्मानुसारि फल प्रदान करता है, जो उस की अपरिच्छिन्न ज्ञातता किंवा सर्वज्ञता का ही सूचक है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार ईश्वर का स्वरूप सर्वसद्गुणों से सम्पन्न है। वह सभी परिणामों से रहित पूर्ण और सर्वोत्कृष्ट सत्ता है। यह अपरिवर्तनशील आश्रयरूप ईश्वर में स्थित हो कर रहता है। इसीलिए इस संसार को सत् कहा जाता है। उसमें और उस के आश्रयभूत जीव में किसी प्रकार के धर्मभूत-ज्ञानानुप्राणित कर्मों का संक्रमण नहीं होता। इसीलिए वह सत्यों का सत्य भी कहा गया है।[3]

आचार्य रामानुज के अनुसार ज्ञानमात्र ही उस का स्वरूप नहीं है। उसमें अन्य अनेक गुणों का भी सन्निवेश है। वह सभी प्रकार के ज्ञानशक्त्यादि कल्याण गुणों का आश्रय हैं। आनन्द इस का सारभूत गुण है।[4] उस में लेशमात्र भी दुःख का अंश नहीं है।

---

१. अपि चेके शखिन एकस्मिन्नेव देह-संयोग बोधस्यापुरुषार्थे परस्परंतु तद्भावम् – अधोयते। श्रीभाष्य ३ – २ – १३।
२. यतीन्द्र मत० पृष्ठ ८४।
३. (क) तस्य च ब्रह्मणः सत्यस्य सत्यमिति नामधेयम्।
   (ख) जीवानां कर्मानुगुण्येन ज्ञानसंकोचकितुसों विद्यते,
   परमपुरुषस्यत्वापहतपापम्नस्तो न विद्यते।
   तेभ्योऽप्येव सत्यं – श्रीभाष्यं ॥ पूवोक्त
४. प्राज्ञस्यानन्दः सारभूतों गुणः इति प्राश आनन्द शव्देन व्यपदिश्यते। पूर्वोक्तैव – ३-३-२ ॥

तैत्तिरीय उसे 'रस' बताता है।[१] वह सर्वज्ञ है, उस का धर्मभूत ज्ञान अविच्छिन्न है, क्योंकि वह चेतन है और चेतन स्वयंप्रकाश होता है। वह ज्ञान का आश्रय है, ज्ञानमात्र नहीं। रामानुजीय दर्शन में धर्मभूतज्ञान चित्तत्व का अपृथक् – सिद्ध विशेषण होता है। उस के ज्ञान के परम शुद्ध होने के कारण नित्य और विभु हैं, उस के ज्ञान में कर्मों के साहचर्य से होने वाली संकोचविकासावस्थाएं नहीं हैं। श्रुतियां भी उसे सत्य, ज्ञान और अनन्त बताती हैं।[२]

वह देशगत, कालगत् और वस्तुगत तीनों परिच्छेदों से रहित होने के कारण अनन्त हैं। सत्यत्व ज्ञानत्व और आनन्दत्व परमात्मा के स्वरूप निर्देशक गुण हैं। ज्ञानशक्त्यादि से भी उस के स्वरूप धर्म निरूपित किये जाते हैं। सर्यज्ञत्व, सर्वशक्ति आदि सृष्टि आदि कार्योपयोगी धर्म हैं। वात्सल्य, सौशील्य, सौलभ्यादि उस के गुण उसे जीवात्मा के परमाश्रयत्व रूप में प्रतिष्ठापित करते हैं। करूणादि धर्म उसके रक्षक रूप को अभिव्यंजित करते हैं।

सर्वोपरि परमात्मा ही इस लोक और परलोक में नानाविध सुखों का प्रदाता है। आचार्य रामानुज के अनुसार प्रकृति और जीवात्मायें परमात्मा की तात्त्विक एकता में अन्तर्भूत है। उन का परमात्मा के साथ गुण और द्रव्य का सा सम्बन्ध है। जिस प्रकार शरीर का जीवात्मा के साथ सम्बन्ध है जैसे शरीर के अंग भंग होने पर आत्मा को कोई विकार या हानि नहीं होती। उसी प्रकार परमात्मा को भी जीव और जगत् की अनेक विध विकृतियां प्रभावित नहीं करतीं। वह सृष्टि का उपादान कारण हो कर भी सभी प्रकार के गुण-दोषों से अछूना है – यही परमात्मा का शुद्धत्व है।

---

५. आनन्दप्राचुर्यमल्पदुः सर्वभावमवगमयतीति सदसत् प्रमाणान्तरेण तद्भावोपगम्यः।
रसो वै सः – तैत्तिरीयोपनिषद् – २-७॥ पूर्वोक्तैव-१-१-१४॥
२. पूर्वोक्तैव-२-१-१॥

वहां वह जगत् का प्रकृति रूप कारणावस्था रूप में आधार है वहीं वह कार्यावस्थ रूप में भी अन्तर्यामित्व रूप से आधार है। उस की यथार्थता और उस का यह अविच्छिन्न सम्बन्ध जगत् और जीव के भी यथार्थ्य का हेतु है।

रामानुज जीवात्मा और जगत् को परमात्मा के विशेषण मानते हैं। परमात्मा उन दोनों का विशेष्य है, जिस प्रकार विशेषण और विशेष्य कदापि एक नहीं हो सकते उसी प्रकार जीवात्मा और जगत् परमात्मा के सदृश्य नहीं हैं। जिस प्रकार विशेष्य के अभाव में विशेषण की कल्पना भी नहीं की जा सकती, उसीप्रकार परमात्मा के अभाव में जीवात्मा और जगत् की सत्ता भी संभव नहीं है। सर्वदर्शनकार रामानुज के इस विचार को तीन रूपों वाला बताते हैं– भेदात्मक, अभेदात्मक, और उभयात्मक। भेदात्मक इस दृष्टि से कि सबका शरीर बनकर, सब प्रकार से केवल ब्रह्म ही अवस्थित है। अभेदात्मक, उभयात्मक या भेदाभेदात्मक प्रकार से कि ब्रह्म एक ही है, नाना प्रकार के चित् अचित् पदार्थों के भेद के कारण नाना रूप में अवस्थित हैं और चित् और अचित् ईश्वर में स्वरूप और स्वभाव को लेकर विलक्षणता है अर्थात् भेद है, इसलिए भेदात्मकता की सिद्धि होती है।[1] चित् का धर्म है ज्ञानस्वरूप होना, इसलिए वह अचित् के सदृश्य नहीं, भिन्न हैं। चिद्रूप परमात्मा और जीवत्मा परस्पर भिन्न हैं परमात्मा विभु, सर्वव्यापक और सर्वज्ञत्वादि गुणों से संवलित हैं। किन्तु जीवात्मा अणु, परिच्छिन्न और अल्पज्ञत्वादि गुणान्वित है। इसलिए दोनों भी परस्पर भिन्न हैं।

आचार्य रामानुज अद्वैतवादी दर्शन की भांति परमात्मा के सजातीय, विजातीय और स्वगत रूपेण तीन भेद स्वीकार नहीं करते हैं। वे मात्र स्वगत भेद मानते हैं।

---

१. तत्र सर्वशरीरतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैवावस्थितमित्यभेदो अभ्युदयेत। एकमेव ब्रह्म नानाभूतचिदचित्प्रकारात् नानात्वेनावस्थि-

विशिष्टाद्वैत में ज्ञान, बल, ऐश्वर्य वीर्य शक्ति तथा तेज रूप षड्गुणों से परिपूर्ण परमात्मा षाड्गुणविग्रह कहलाता है।

यह परमात्मा आत्म समपर्ण के द्वारा तेलधारावद्-अवच्छिन्न -स्नेहिल-स्मरण परम्परा इस भक्ति से लभ्य हैं। वह आर्तं और विश्रान्त जीवात्माओं पर स्वयं अपनी कृपा के पुष्पों की वृष्टि कर उनके तापक्रम को दूर करने में भी समुत्सुक रहता है।

रामानुज शंकर के उस विचार को स्वीकार नहीं करते जिसमें परमात्मा अपने परम सत्य रूप में ज्ञानमात्र है और अविद्योपहित होकर सगुण है। ज्ञान को परमात्मा का अन्य गुणों की भांति एक गुण स्वीकार किया गया है। परमात्मा कल्याणकारी अनेक गुणों का अधिष्ठान हैं। अतः वह निर्विशेष ज्ञानमात्र नहीं है। रामानुज किसी भी निर्विशेष पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करते। वे शंकर के दोनों रूपों को अर्थात् समाहित और निर्गुण के भेदों को अपने एकमात्र परमात्मा विष्णु या नारायण में ही समाहित कर देते हैं। अर्थात् वे निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार का एक ही ब्रह्म स्वीकार करते हैं।

जैसा कि हमने कहा कि अद्वैतवाद में ब्रह्म को निर्गुण और ज्ञानमात्र स्वरूप वाला बताया गया है किन्तु रामानुज इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार ब्रह्म कल्याणकारी गुणों का आधार होने से सगुण है, साथ ही वह निर्गुण भी है। किसी उस रूप में कदापि नहीं, जिसमें शंकराचार्य मानते हैं। रामानुज के मत में निर्विशेष पदार्थ की कल्पना ही सम्भव है। जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ गुण विशिष्ट होते हैं, यहाँ तक कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी विशेष वस्तु की है प्रतीति स्वीकार करते हैं। अतएव उनके मत में कोई पदार्थ निर्विशेष नही हो सकता, इस लिए ईश्वर

तमिति बोभेदो। चिदचिदीश्वराणां स्वरूपस्वभाववैलक्षण्याद-संकराध्य भेदः। सर्वदर्शन संग्रह – ४॥

ज्ञानमात्र न होकर ज्ञानस्वरूप तथा अन्य गुणों का आश्रय भी हैं। वे गुण उसे सगुण बनाते हैं फिर परमात्मा निर्गुण कैसे हो सकता है।

रामानुज कहते हैं–ईश्वर निर्गुण हैं, निर्विशेष कदापि नहीं। प्रत्युत उसमें उन सभी तुच्छ (दुर) गुणों का अभाव है जो उसके शरीर भूत चित् और अचित् में हैं। जो जड़ता, अल्पज्ञत्वादि है या गुण है उनसे परमात्मा सर्वथा रहित हैं। इस रूप में रामानुज[1] के मतानुसार परमात्मा को भी उद्धृत करते हैं - जिसमें परमात्मा को अपहतपाप्मा, अजर, विमृत्य, विशोक, अविजिघत्स, अपिपास कहा गया है।[2]

रामानुज के अनुसार परमात्मा श्रेष्ठ गुणों का आगार, अनन्त ज्ञान, आनन्द रूप, ज्ञानशक्त्यादि कल्याण गुणों से अलंकृत तथा जगत् की सृष्टि, स्थिति व प्रलय का कर्त्ता है। प्रलयकाल में जीव-जगत् के सूक्ष्मरूपापन्न होने पर सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ईश्वर कारणा-स्वरूप ब्रह्म कहलाता है। अर्थात् सविशेष या सगुण होता है और और सृष्टि-काल में स्थूलचिदचित् विशिष्ट कार्यावस्थ ब्रह्म कहलाता है–समस्त पदार्थों में अन्तर्यामी होकर रहता है, अतः इस अवस्था में ब्रह्म सविशेष या सगुण ही रहता है। उपनिषदों में जो निर्गुण श्रुतियां हैं उनका तात्पर्य है कि उस ब्रह्म में रागद्वेषादि और जडत्वादि गुण वर्तमान नहीं रहते।

कुछ विद्वान् उपनिषदों में जो एकअन्य दृष्टि से भी सगुण ब्रह्म को निर्गुण मानने का औचित्य कुछ इस तरह बताते हैं-जगत् केअन्दर-बाहर वह सर्वथा विद्यमान रहता है। कार्यावस्था में जो ब्रह्म के गुण व्यक्त होते हैं–सर्वशक्तिमानत्वादि के कारणावस्था में नहीं रहते।

---

१. निर्गुण वादाश्च प्राकृतहेयगुणनिषेधपरतया।
—वे० सं० – पृष्ठ १३८ ॥

२. (क) छान्दोग्य – ७-१-५ ॥
(ख) श्री भाष्य – ३-२-१ ॥

इसलिए कहा जा सकता है कि सृष्टि की व्यक्तावस्था में ब्रह्म के जो गुण परिदृष्ट होते हैं वे कारणावस्था में व्यक्त या परिदृष्ट नहीं होते। तस्मात् अव्यक्तगुण वाली कारणावस्था को दृष्टिपक्ष में रखकर भी परमात्मा को निर्गुण कहा जा सकता है।

इसप्रकार परमात्मा सगुण भी है और निर्गुण भी। आचार्य रामानुज के अनुसार सगुणता और निर्गुणता, परस्पर विरोधी भाव न होकर प्रत्युत साथ-साथ रह सकते हैं—जैसे कि ब्रह्म में।[1]

रामानुज के अनुसार परमात्मा सृष्टि करता है। वह इस जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण—दोनों है। तीन प्रकार के कारण माने जाते हैं-उपादान, निमित्त और कारण साधारण उपादान कारण वह पदार्थ या द्रव्य है, जो किसी परिणाम द्वारा कार्यावस्था को प्राप्त होता है। निमित्त कारण वह है जिसके द्वारा उसके कार्य रूप में परिणत किया जाता है। अन्य सहायक उपकरण आदि सहकारी कारण कहे जाते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि जीव-जगत् एवं परमात्मा का प्रकार-प्रकारी या शरीर-शरीरी भाव से अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है।[2] अतः वे भी परमात्मा से भिन्न माने जाते हैं। इसप्रकार जगत् परमात्मा का शरीर है। जगत् हेतु भूत प्रकृति अपनी कारणावस्था में अभिव्यक्तरूपेण परमात्मा के साथ ही रहती है। अतः उसमें होने वाला विकार या परिणाम वस्तुतः परमात्मा के शरीर रूप का परिणाम है। इस रूप में परमात्मा जगत् का उपादान कारण है।[3]

---

१. यतः सर्वत्र श्रुतिस्मृतिषु परं ब्रह्मोभयलिंगमभयलक्षणमभिभयते निरस्तनिखिलदोवत्वत्व कल्याणगुणवणाकरत्व लक्षणोपेत-मित्यर्थाः ॥ श्रीभाष्य – ३–२–११ ॥

२. सर्वशरीतया सर्वं प्रकार ब्रह्मे वस्थितमित्यभेदः अर्थितः। वे० सं० पृष्ठ १३९ ॥

३. एकमेवेति सदापन्नस्य जगतस्तदानीमविभवतरूपतां प्रतिपाय तत्प्रतिपादनेनैव ततो जगदुपादानत्वं प्रतिपादितम् ॥ वे० सं० पृष्ठ २६ ॥

क्योंकि सृष्टि-उपादान परमार्थक उसका स्वगत शरीर ही है। यहां यह ज्ञातव्य है कि यह परिणाम परमात्मा का प्रकार या विशेषण या शरीरभूता प्रकृति में ही होता है, विशेष्यभूत परमात्मा अपने परमार्थ स्वरूप से निर्विकार है, अतः उसमें किसी भी परिणाम की की अपेक्षा नहीं की जा सकती।[1] जिसप्रकार से मकड़ी अपने में बिना किसी विकार का आश्रय बने अपने शरीर भूत विशेषण के द्वारा कार्यरूप में परिणत होना प्रारम्भ हो जाती है। इस अवस्था में परमात्मा का उक्त संकल्प सृष्टि का निमित्त कारण बनता है। स्वयं गीता में श्री कृष्ण कहते है कि यह समस्त चराचर जगत् प्रकृति मेरे सत्यसंकल्प के द्वारा लक्षणाधीन होकर रखा जाता है।[2] परमात्मा के ज्ञानशक्त्यादि गुणसुहकारी बनते हैं।[3] परमात्मा को सृष्टि रूप कार्य सम्पन्न करने के लिए लोकवत् किन्हीं विशेष (चक्र-दण्डादि) की अपेक्षा नहीं होती है, परमात्मा सत्य संकल्प है, वह हमारे जगत् की संकल्प मात्र से ही रचना कर देते है।[4]

किन्तु यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि सत्य संकल्प और सर्वेश्वर परमात्मा का सृष्टि रूप कार्य आचार्य रामानुज के अनुसार स्वतंत्र या निरपेक्ष कदापि नहीं है प्रत्युत आत्माएं अपने कर्म फलों का उपभोग कर सकें, इसलिए परमात्मा सृष्टि करता है।[5] परमात्मा जीवात्माओं के लिए तत्तकर्मानुरूप ही तत्पदार्थों का सृजन करता है। इसी से वह सृष्टि विषम या असमान होती है।[6]

---

१. अतः प्रकृतिकारसंस्थिते परमात्यानिप्रकारभूतप्रकृत्यशे विकारः। प्रकायांशे वा विकारः॥ वे० सं०॥

२. गीता ॥ ९।१०॥

३. ज्ञानशक्त्यादिविशिष्टः सहकारी। यतीन्द्र मत०प्रकाशटीका०॥

४. असौ पुरूषोत्तमः कृत्स्नं जगत् संकल्पामात्रेण सृजति। श्रीभाष्य – २-१-१५॥

५. क्षेत्रज्ञकर्मानुगुण्येन विचित्र सृष्टियोगान् ब्रह्मैव जगत्कारणम्। पूर्वोक्त – २-१-३५॥

६. सृज्यमानदेवादिक्षेत्रज्ञकर्मसापेक्षत्वाद्विविषम् सृष्टेः –पूर्वोक्तेव।

अवाप्तसमस्तकाम परमात्मा का सृष्टि प्रयोजन, जहां जीवात्माओं को उनके तत्तकर्मानुरूप फल प्रदान करता है, वहीं वैयक्तिक रूप में वह सृष्टि, आचार्य रामानुज के अनुसार उसकी लीलामात्र है।[1]

परमात्मा के रूप—

परमात्मा दयालु एवं अपने भक्तों पर वात्सल्य प्रेम रखने वाले हैं। आचार्य रामानुज के अनुसार वे अपने उपासकों के गुणों के अनुसार विभिन्न फल देने के लिए अपनी लीला दिखाते हुए पांच रूपों में अवस्थित रहते हैं।[2] ईश्वर के स्वरूप के–पर व्यूह, विभव अन्तर्यामित्व तथा अर्थावतार पांच प्रकार हैं।[3]

पर—यह परमोत्कृष्ट रूप वासुदेव भी कहलाता है। विशिष्टाद्वैत में इसे सूक्ष्म भी कहा गया है। परमात्मा का यह स्वरूप षड्गुण सम्पन्न है, इसलिए इसे षाड्गुण्यविग्रह भी कहा जाता है।[4] विशिष्टाद्वैत के अनुसार यह कभी परिणाम को प्राप्त नहीं होता। श्रुति भी इसको पाप रहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित और भूख-प्यास रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प कहती है।[5] पर रूप में परमात्मा नारायण हैं, वैकुण्ठ में मणिमय सिंहासन पर शेषनाग का पलंग बनाकर लक्ष्मी के साथ रहते हैं। दिव्य कल्याण-

---

१. विविधविचित्रचिदचिन्निप्रकारारसर्गे लीलेव केवला प्रयोजनम्।
पूर्वोक्तैव – २-१-३१॥

२. परमकारूणिको भक्तवत्सलः परमपुरूषस्तदुपासहानुगुणतत्तफलप्रदानाय स्वलीलावशाङ्पंचधावतिष्ठते–सर्वदर्शन–संग्रह-४॥

३. ईश्वरस्य स्वरूपं परव्यूहविभवान्तर्यामित्वाचावतारमेहेन पंचप्रकारम् – तत्वत्रय – पृष्ठ १२१॥

४. परं ब्रह्म सम्पूर्णं षाड्गुण्य वपुः – श्रीभाष्य २-२-४१॥

५. छान्दोग्योपनिषद् – ७-१-५॥

कारी विग्रह धारण करते हैं। देवता और मुक्तात्माओं द्वारा ये देखें और ज्ञानलभ्य बताये जाते हैं।

व्यूह—आचार्य रामानुज के मत में व्यूह रूप संसार की सृष्टि, स्थिति और संसार का निमित्त है।[1] वस्तुतः यह परमात्मा के गुणात्मक रूपेण समस्त रूपों का एकत्र व प्रतीत होता है। चार प्रकार व्यूह-वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध माने गये हैं।[2] वासुदेव रूप व्यूह का पर रूप में कथन किया जा चुका है।

संकर्षण—ज्ञान और बल–इन दो गुणों से विशिष्ट संकर्षण स्वरूप के द्वारा प्रद्युम्न की अवस्था को प्राप्त कर परमात्मा शास्त्र प्रवर्त्तन एवं जगत् का संहार कर्ता है। यही जीवों में व्याप्त है। उसकी स्थिति भी जीव को प्रकृति विच्छिन्न करती है।[3] यही जीव पर शासन करता है।

प्रद्युम्न—विशिष्टाद्वैत के अनुसार प्रद्युम्न नाम का व्यूह रूप ऐश्वर्य तथा वीर्य गुणों से सँबलित हैं। इस स्वरूप के द्वारा परमात्मा धर्मोपदेश, मनु, चारों वर्णादि शुद्ध वर्गों की सृष्टि करता है। यह जीव मन को अधिष्ठान बनाकर रहता है।[4]

अनिरुद्ध—विशिष्टाद्वैत के अनुसार परमात्मा का अनिरुद्ध नामक व्यूह रूप शक्ति और तेज गुणों से युक्त होकर रक्षादि कार्य, तत्वज्ञानप्रदान, काल, सृष्टि एवं मित्र सृष्टि के निर्वहण का कार्य

---

१. व्यूहोनाम सृष्टिस्थिति संहारार्थम् – तत्वत्रय – पृष्ठ १२३ ॥

२. व्यूहो वासुदेवसंकर्षाण प्रद्युम्नानिरुद्धरूप – चतुर्व्यूहः –
श्रीभाष्य – २-२-४१ ॥

३. तत्र संकर्षणज्ञाननूताभ्यांयुक्तो जीवतुल्यनर्थिठाय तत्प्रकृतेर्विध्य प्रद्युम्नाकल्पां प्राप्य शास्त्रप्रवर्तनं जगत्संहारं च करोति –
तत्वत्रय पृष्ठ १२५ ॥

४. प्रद्युम्नं ऐश्वर्यवीतुभ्यो युक्तो मलच्छध्वमधिष्ठाय धर्मोपदेशं मुमुक्षतुष्टयप्रकृतिशुद्ध वर्गसृष्टि च करोति।
पूर्वोक्त पृष्ठ १२६ ॥

करता है। यह व्यूह रूप मानव के अंहतत्व रूप से सम्बद्ध होता है।[1]

परमात्मा के संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरूद्ध तीनों व्यूह रूप क्रमशः जीवात्मा, मन और अहं भाव को अधिष्ठान बना कर रहते हैं। अतः इन तीनों को उक्त अधिष्ठान नामों से भी कहा जाता है।[2] परमात्मा इन रूपों के द्वारा जीवात्मा और उसके मन और अहंभाव पर शासन करती है।[3]

३. विभव—आचार्य रामानुज के अनुसार रामादि के रूप अवतार को विभव कहते हैं।[4] यह मुख्य और गौण भेद से दो प्रकार का बताया गया है।

मुख्य विभव रूप में परमात्मा अपने विशेष भक्तों पर स्वेच्छा से अनुग्रह करने के लिए प्रकट होते हैं। यह श्रेष्ठ विभव माना जाता हैं, मुमुक्षुओं के द्वारा यही उपास्य है। आवेश के रूप में दो प्रकार का है। जीवाधिष्ठित शरीर में कोई विशेष कार्य करने के लिए परमात्मा उक्त दो रूपों से प्रविष्ट होता है। परशुरामादि में स्वरूप से ही प्रवेश होता है, विधि, शिव आदि में शक्ति के द्वारा प्रवेश होता है।

मत्स्य कूर्मादि वश अवतार विभव ही माने गये हैं।[5] परमात्मा के अवतार रूप कार्य का हेतु कर्म नहीं बताया गया है। अर्थात्

---

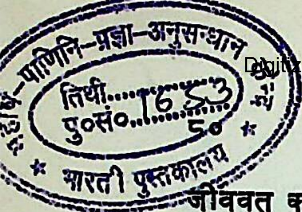
१. अनिरुद्धः शक्तिदेवोभ्यां पुण्य रक्षणस्य तत्वज्ञानप्रदानस्य काल-सृष्टेर्मित्र सृष्टेश्च निर्वाहकः। पूर्वोक्तैव – पृष्ट १२७ ॥

२. एष जीवमनो अंकारसत्वानामधिष्ठातरः संकर्षणप्रद्युम्नानि-रुद्धाः इति तेषामेव जोवादि शब्देरभिनमविस्तधन् – श्रीभाष्य – २-२-४१ ॥

३. भा०द० – भाष्य – भाग २ – पृष्ठ–६६१–डा. राधाकृष्णन् ॥

४. विभवां हि नाम रामकृष्णादि प्रादुर्भावः–श्रीभाष्य –२.२.४१॥

५. स दशधा–ते च मत्स्यादयोऽवतारः – यतीन्द्रमतः--पृ. ८६ ॥



जीववत् कर्मवशात् परमात्मा का अवतरण नहीं प्रत्युत इस नाम के कारण होता हैं। गीता में भी कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतानाम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ॥ गीता ४-८ ॥

४. **अन्तर्यामी**—परमात्मा का अन्तंयामी रूप जीवात्मा के अन्दर प्रविष्ट होकर उसका नियमन करता है।[1] श्रुति भी कहती है कि जो आत्मा में स्थित होकर भीतर से ही आत्मा को नियंत्रित करता है, वह परमात्मा में (बृहदारण्यक) परमात्मा का यह रूप जो योगियों द्वारा गम्य है, मित्र की तरह स्वर्ग नरकादि की दशा में भी जीवात्मा के हृदय में स्थित रहता है।[2] जीव के साथ रहने पर भी यह अनावित ही रहता है। परमात्मा का रूप उसे अच्छे-बूरे कार्यों के प्रति प्रवृत्त और निवृत्त करता है।

५-**अर्चावतार**—अर्चा प्रतिमादि को कहते हैं।[3] यह पर मात्मा का वह स्वरूप है, जिसमें ईश्वर अपने को भक्तों की भावनाओं के अनुरूप उनकी सन्तुष्टि के लिए अभिमत रूपों में अपने विग्रह के द्वारा प्रकट करता है। देवालयों, घरों आदि से देवता के रूप में पूजित मूर्तियों को सूक्ष्म और दिव्य शरीर युक्त परमात्मा अपना शरीर बना देता है। यहां ईश्वर सर्वंसहिष्णु होकर अर्चेक के आधीन स्नान, भोजन, आसन, शमनादि भी करता है। परमात्मा का अर्चावतरण कहीं स्वयं होता है, कहीं देवताओं, कहीं सिद्धों और कहीं मनुष्यों द्वारा संस्थापित प्रतिमाओं में होता है—इस प्रकार अर्थावतार रूप चार प्रकार का होता है।[4]

---

१. अन्तर्मामित्वमन्तः प्रविश्य नियन्तृत्वम् – तत्वत्रय–पृष्ठ १३६ ॥
२. यतीन्द्रमत – पृष्ठ ८८ ॥
३. अर्चानाम प्रतिमादयः – सर्वदर्शन संग्रह – ४ ॥
४. स च स्वयं व्यक्त देव–सैद्धमानुष–भेदाच्चतर्विध–यतीन्द्रमत पृष्ठ ८८ ॥

ईश्वर की सिद्धि—

आचार्य रामानुज के अनुसार परमात्मा की सिद्धि एकमात्र आगम अर्थात् शब्द प्रमाण के द्वारा ही संभव है।[1]

रामानुज के अनुसार परमात्मा प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा साध्य नहीं हो सकता। क्योंकि इन्द्रिय सापेक्ष प्रत्यक्ष मात्र दो प्रकार से होता है—इन्द्रियों से अथवा मन से। इन्द्रियां केवल उसी विषय का प्रत्यक्ष करती है जो विषय उनके समक्ष (सन्निकर्ष) उपस्थित होता है। परमात्मा के साथ कभी भी हमारा इन्द्रिय-सन्निकर्ष नहीं होता। अतः इन्द्रियां सत्प्रमिति में अक्षम ही हैं।[2] मनसा केवल अनुभूत्यात्मक सुख दुःख का प्रत्यक्ष (किंवा ज्ञान) होता है या फिर मन बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा नियत विषय का ज्ञान कराता है क्योंकि परमात्मा न तो हमारे सुख दुःख का विषय है और न इन्द्रियों का। एतस्माद् मन के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता।[3]

रामानुज के अनुसार इन्द्रियानपेक्ष यौगिक-प्रत्यक्ष के द्वारा परमात्मा ज्ञेय नहीं है[4] क्योंकि भावना या चिन्तन के चरम उत्कर्ष से से ही उत्पन्न विशद् अवभास वाला वह पूर्वानुरत विषय की अनुभूति मात्र वाला ही होता है। अतः उसे तो प्रमाण भी नहीं कह सकते, पूर्वानुभूत विषय से अतिरिक्त किसी विषय का कभी योग द्वारा साक्षात् हो सके, ऐसा कोई कारण नहीं मिला और यदि ऐसा अवभास संभव हो तो उसे भ्रम ही मानना चाहिए।

इस प्रकार परमात्मा रामानुज के अनुसार किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकता।

---

१. शास्त्रैकप्रमाणकत्वादुधतस्वयं ब्रह्म—श्रीभाष्य—१—१—३ ॥
२. बाह्येन्द्रियाणि विद्यमानसन्निकर्ष योग्यस्वविभव बोधजननानीति, न सर्वार्थसाक्षात्कारसन्निर्माणे—समर्थं पुरुषविशेष—बोध—जननानि—पूर्वोक्तैव ॥
३. नाप्यान्तरम्—प्रर्वोक्तैव ॥
४. नापियोगजन्यम्—पूर्वोक्तैव ॥

रामानुज के अनुसार परमात्मा अनुमान द्वारा भी ज्ञेय नहीं है। क्योंकि सामान्यतः अनुमानमूलज्ञान व्याप्ति के आधार पर होता है, और उस व्याप्ति का पूर्वप्रत्यक्षीकृत होना भी अनिवार्य है। किन्तु परमात्मा के विषय में इस प्रकार की कोई व्याप्ति का प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं है।

अतीन्द्रिय वस्तु में सम्बन्धावधारण न हो सकने के कारण विशेषतो दृष्ट अनुमान भी संभव नहीं है[1] और साथ ही, समस्त वस्तुओं के साक्षात्कार और निर्माण में समर्थ सर्वोत्तम पुरुष विशेष के विषय में कोई चिन्ह दिखाई न देने के कारण सामान्यतोदृष्टानुमान भी घटित नहीं हो सकता।[2]

न्याय वैशेषिकादि दर्शन परमात्मा को अनुमानगम्य मानते हैं। उनका मत है जिस प्रकार कार्य रूप घटादि को देखकर उसके निमित्त कारणभूत निर्माता का अर्थात् कुम्भकारादि का अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार कार्यरूप सम्पूर्ण साकार जगत् को देखकर उसके किसी ऐसे चतुर रचयिता का अनुमान हो जाता है। जो कि समस्त जगत् के निर्माण सम्बन्धी उपादान, उपकरणादि को भांति-भांति जानता है। कोई भी कार्य किसी कर्त्ता विशेष के द्वारा ही सम्पन्न होता है, अतः इस आधार पर परमात्मा का अनुमान किया जा सकता है।

रामानुज इस कुम्भकारादि के दृष्टान्त को उचित नहीं मानते और न ही परमात्मा का इस प्रकार अनुमान स्वीकार करते हैं। अतः उक्त अनुमान का खण्डन करते हुए कहते हैं कि विशाल पृथ्वी; विस्तृत समुद्रादि कार्य एक ही समय में एक ही निर्माता द्वारा निर्मित हुए हों ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। घट की तरह

---

१. अतीन्द्रिये वस्तुनि सम्बन्धविधारणविरहात् न विशेषतोदृष्टम्—पूर्वोक्तैव ॥

२. समस्तवस्तुक्षोत्कारन्निर्माणसमर्थपुरूषविशेषनियतं। सामान्यतोदृष्टमपि न लिंगमपलभ्यते—पूर्वोक्तैव ॥

सारे पदार्थ) तक ही उपादान के कार्य हों अथवा एक ही समय में एक ही कर्ता के कार्य हों, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता । विभिन्न कार्यों में काल भेद, कर्त्ता भेद देखा जाता है । कर्त्ता और काल की एकता भी निश्चित नहीं होती ।[1] इसलिए अखिल विश्व के वैविध्य-पूरित कार्यों को देखकर तत्तत्काय हेतु और तत्तकालों में अनेक कर्त्ताओं की कल्पना अपघातक ही सिद्ध होती है ।

इसी प्रकार जागतिक प्रम्बन्ध को देखकर तत्कर्त्ता रूप में परमात्मा का अनुमान करने में अनेक प्रश्न सामने आते हैं, जिनका समाधान नहीं हो पाता । यदि ईश्वर जगत् बनाता तो क्या वह शरीर धारण करता है या नहीं ? यदि नहीं, तो बिना शरीर वाला होकर तो वह सृष्टि कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि बिना शरीर वाले का कोई निर्माण कार्य नहीं देखा जाता ।[2] मानस कार्य भी शरीर धारी के ही होते हैं । मन के नित्य होते हुए भी मुक्तात्माओं में स्थूल मानस कार्य का अभाव होता है ।[3] अशरीरेण सृष्टि निष्पत्ति न देखकर यदि कोई यह कहे कि ईश्वर शरीरधारण करके सृष्टि करता है, तो वह भी निरापद नही । क्योंकि पुनः प्रश्न उठता है कि उसका शरीर नित्य है अथवा अनित्य । नित्य मानने पर उसकी नित्य जगत् के उपादान में ईश्वर की उपयोगिता भी कुछ नहीं रह जायेगी ।[4] यदि यह कहा जाये कि अनित्य शरीर धारण करता है तो यह भी युक्तियुक्त नहीं । वह स्वयं भी अपने शरीर का निर्माता नहीं हो सकता । क्यों कोई भी अशरीरी अपने शरीर का निर्माता नहीं होता ।

---

१. पृथग्भूतेषु–कार्येषु–कालभेदकर्तृभेददर्शनकर्तृकालेभ्य नियमादर्शनात् । पूर्वोक्तैव ॥

२. न तावदशरीरः अशरीरस्त कर्तृत्वानलब्धेः – पूर्वोक्तैव ॥

३. मनसो नित्यत्वेऽप्यशरीरेण् मुक्तेषु तत्कार्यादर्शनात् । – पूर्वोक्तैव ॥

४. सावयवस्य तस्य नित्यत्वे जगतोऽपि नित्यत्वाविरोधाद् ईश्वरासिद्धेः – पूर्वोक्तैव ॥

इस के अतिरिक्त अन्य और प्रश्न सामने आते हैं कि क्या सृष्टि कर्त्ता परमात्मा सचेष्ट हैं या निश्चेष्ट ? अशरीरधारी होने से सचेष्ट नहीं कहा जा सकता। दूसरे निश्चेष्ट भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि निश्चेष्ट में इच्छामात्रिक कर्तृत्व नहीं देखा जाता। स्वयं दृष्टान्त के कुम्भकारादि द्वारा इच्छामात्रादि से घटादि कार्यों की रचना होती नहीं देखी गई। इस प्रकार प्रत्यक्ष के आधार पर परमात्मा सम्बन्धी अनुमान असिद्ध हो जाता है।[1]

आचार्य रामानुज के अनुसार अन्ततः परमात्मा शास्त्रैण-गम्यमात्र है।[2]

आचार्य रामानुज के अनुसार अद्वैतवाद के ब्रह्म का खण्डन—

अद्वैतवादियों के अनुसार परम ब्रह्म निर्विशेष ज्ञानसत्तामात्र हैं। वह स्वतन्त्र और स्वयंप्रकाशक होकर भी वह बन्धनों में आभासित होता है। जीवात्मा वस्तुतः अविद्यानिमित्तक ब्रह्म ही है, जो तत्वज्ञान के अभ्युदयानन्तर ब्रह्मा रूप ही हो जाता है।[3] जगत् का यह प्रतीयमान विविधत्व भी अनेकात्मकत्ता उस की कल्पनामात्र है। पूर्वात्मा और पूर्ण शरीर एक ही हैं।[4] उपदेशक, श्रुतियां विद्वान्

१. अतो दर्शनानुगुण्येनईश्वरानुमानं दर्शनानुगुण्यपराहतमिति।
—पूर्वोक्तैव।

२. स० प्र०—प्रथम समुल्लास — पृष्ठ २०-२१ ॥

३. (क) पूरं ब्रह्मवाशं भ्रम-परिगतं संसरित तत् — वेदार्थ संग्रह— पृष्ठ — ३ ।।

(ख) निर्विशेष ज्ञानमात्रमेव ब्रह्म। तच्चमित्यमुक्तप्रकाशस्व-मकिनपितत्वमस्यादिसानाना करणस्यजगतबोधेक्यं ब्रह्म-वाज्ञं वेध्यते मध्यते ।। पूर्वोक्तैव-पृष्ठ १३ ।।

४. आचार्यो ज्ञानोपदेष्टा मिथ्या, शास्त्रं च मिथ्या, शास्त्रप्रमाता च मिथ्या, शास्त्रजन्म ज्ञानं च मिथ्या। — पूर्वोक्तैव ।।

और शास्त्र या श्रुतिविहित ज्ञान भ्रान्ति या मिथ्यामात्र है।[1] एकमात्र निर्विशेष ज्ञानस्वरूपमात्र ब्रह्म ही उन के मत में सत्य है।

रामानुजाचार्य ने अपने ग्रंथ वेदार्थ संग्रह में अद्वैतवाद के उक्त मत का पूर्वपक्ष रूप में अवतरण करते हुए उसका विशद रूप से खण्डन किया है। उपनिषद् में है कि इसने अनेक होने की प्रकल्पना की।[1] और संसृष्ट वस्तुएं में इस सद् से ही अपनी उत्पत्ति पाती हैं, इसी में समाविष्ट होती है तथा इसी से अपना अस्तित्व प्राप्त करती है। रामानुज के अनुसार इसका अर्थ ब्रह्म है। उक्त श्रुतियों के आधार पर ज्ञात होता है कि ब्रह्म संसार की सृष्टि, पालन तथा विनाश करता है। श्रुतियां ही इस बात का कथन करती हैं कि वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा सर्वेश्वर है। सभी पदार्थ उसके प्रकार हैं। अन्य पदार्थ न तो इसकेतुल्य है और न इससे महान् है। वह सत्यसंकल्प है, उसकी सत्ता अनतिक्रम प्रतिपादित किये हुए है। रामानुज कहते हैं कि यदि ब्रह्म को निर्विशेष ज्ञान स्वरूपमात्र ही स्वीकार किया जाता है तो उक्त गुणों की, जो श्रुति-उक्त होने से सर्वथा निर्विशेष ज्ञान स्वरूपमात्र ब्रह्म नहीं स्वीकार किया जा सकता।

अद्वैत के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है और यह दृष्टिगोचर समस्त जगत् तत्प्रसूत होकर भी मिथ्या है।[3] अर्थात् जगत् ब्रह्म का ही विवर्त है, वह सत्य नहीं है। रामानुज इस पर आपत्ति करते हुए कहते हैं कि यदि ब्रह्म सत्य है, और उसका परिणाम मिथ्या माना जाये तो औपनिषदिक आगम—एकेन विज्ञातेन सर्वविज्ञातम्—

---

१. तदकारा बहुस्यां प्रजायेय: — छान्दोग्य० ६-२-३ ॥

२. सन्भूता: सौम्येया: प्रजा: सदायतना: सत्प्रतिष्ठा: छान्दोग्य० ७-८-४ ॥

३. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या। कारणभूतस्येव सत्यतां विभुरजातस्य चासत्यतां भद्दृष्टान्तेन दर्शयित्वा सत्वभूततस्यैव ब्रह्मण: निर्विशेषता: प्रतिवादिता: ॥ वे०सं० ७ ॥

अर्थात् एक के जानने पर सबका ज्ञान हो जाता है, कि निरर्थकता होगी। क्योंकि उस स्थिति में, अर्थात् परिणामभूत जगत् की मिथ्या मानने की अवस्था में कुछ भी ज्ञेय नहीं रह जायेगा और सत्य तथा मिथ्या में विभेद करना विवादास्पद हो जायेगा।[1] उक्त आगम की उपयोगिता तभी सिद्ध हो सकती है जबकि हम (सर्व) सबको सत्य माने। क्योंकि यहां यह भी विचारणीय है कि कारणभूत सत्य ब्रह्म का कार्यभूत परिणाम जगत् मिथ्या क्यों हो सकता है? कार्य और कारण की अभिन्नता तो तभी मानी जा सकती है कि जब सत्यकारण का कार्य भी सत् हो। यदि दोनों में से किसी एक को मिथ्या माना जायेगा तो कारणकार्य की अनन्यता की व्यवस्था नहीं बनेगी। अतः उस व्यवस्था को बनाये रखने के लिए या तो ब्रह्म को मिथ्या मानना पड़ेगा या सत्कार्यभूत जगत् को सत्य।[2] अतः अद्वैतवाद का उक्त मत तर्कसंगत नहीं कि ब्रह्म सत्य है और उसके द्वारा संसृष्ट जगत् मिथ्या।

अब यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि उन श्रुतियों का सगुण ब्रह्म से किस प्रकार निर्वाह किया जायेगा जिसमें ब्रह्मको निर्विशेष कहा गया है यथा—छान्दोग्य में है कि यह (इदम्) सबसे पूर्व एकमात्र सद् ही था।[3] अनन्य अकेला ही था।[4] तैत्तिरीय

---

१. एक विज्ञानेन सर्वविज्ञानन् सर्वस्य मिथ्यात्वे सर्वस्य ज्ञातव्यस्थाभावान्न सेत्स्यति, सत्यमिथ्या त्वयारेक्ताप्रसक्तिवा। वे०सं० पृष्ठ १८॥

२ ये तु कार्यं कारणतोरनन्यदं कार्यस्य मिथ्या त्वामक्षणेन् वर्णयन्ति न तेषां कार्यकरणयोग्रन्यत्वं सिध्यति, सत्यमिथ्यार्थयी एवपानपपत्ति ?। तथा इति ब्रह्मणां मिथ्यात्वं, जगतः सत्यत्वं वा स्यात्। श्रीभाष्य २-१-१५॥

३. सदेव सोम्येदमग्र आसीत-छाप्दोग्य०—६—२॥

४. एकमेवाद्वितीयम्—छान्दोग्य—६—२॥

कहता है कि सत्य ज्ञान तथा अनन्त ही ब्रह्म है।[1] श्वेताश्वेतरोपनिषद् में है कि वह अविभक्त, निष्क्रिय और गुण रहित है।[2] रामानुज का समाधान करते हुए कहते हैं, यह (इदम्) शब्द ब्रह्म का नहीं प्रत्युत संसार का बोधक है। 'अग्र' शब्द से सृष्टि पूर्वास्था का अभियान किया गया है जब श्रुति यह कहती है कि संसार सृष्टि से पूर्व भी सद् था जो उसका वहां तात्पर्य होता है कि वह सदात्मक था। अर्थात् जिसकी आत्मा सद्रूप ही था। रामानुज कहते हैं कि नामरूपविहीन यह जगत् सृष्टि पूर्व सदात्मक स्थिति में था। यहां तक यह कहा गया है कि वह एक अकेला ही अनन्यभाव से प्रतिष्ठित था तो यहां एक से उस अवस्था का कथन है जिसमें नामरूप विहीन अविभक्त जगत् सृष्टि-पूर्वावस्था में अपृथक् सिद्ध होकर संस्थित था। इसी से उस एकमात्र की जगत् के उपादानत्व का भी अभिधान होता है।[3] क्योंकि परमात्मा एक होकर भी इस जगत् से उसकी कारणावस्था और प्रपंचात्मक कार्यावस्था रूप दोनों ही स्थितियों में अन्तः नियामक और तदुपादानत्व रूप से जुड़ा हुआ है। रामानुज का विचार है कि परिणाम या कार्य अपने कारण से किसी भी अवस्था में व्यतिरिक्त नहीं हैं। इसी प्रकार "अद्वितीय" शब्द भी शंकराभिमत अद्वैत का प्रतिपादक न होकर ब्रह्माण्ड के ब्रह्मातिरिक्त किसी दूसरे नियन्ता की अन्य सत्ता के निषेध का ही वाचक है।[4] वह अद्वितीय है। उसके समान कोई दूसरी शक्ति या विभूति विद्यमान नहीं है।

---

१. सत्यं ज्ञानं अनन्तम्—तैत्तिरीयोपनिषद्— २—१॥

२. निष्कलं निष्क्रियं निर्गुणम्—श्वेता० ६—१९॥

३. एकमेवेति सदापन्नस्य जगतस्तूदानीमविभक्तनुमहतां प्रतिपाद्य तत्प्रतिपालनेनैव सतो जगद्पादानत्वं प्रतिपादितम्—
वै० सं० पृष्ठ २६ ॥

४. स्वव्यक्तिरिक्त निमित्तकारणम्। अद्वितीय पदेन प्रतिनिबद्धम्।
पूर्वोक्तैव। पृ० २१६।

रामानुज का मत हैं कि यह अनेकात्मक ब्रह्माण्ड और परमात्मा उसी प्रकार परस्पर सम्बद्ध है जिस प्रकार शरीर आत्मा से सम्बद्ध है इसी कारण उन में परस्पर तादात्म्य है। अपने इस विचार के समर्थन में श्रुत्तियां भो प्रस्तुत करते हैं। जिनमें कहा गया है कि जो आत्मा में निवास करता है।[1] आत्मा जिसका शरीर है।[2] जो अपनी शरीर भूता पृथ्वी में प्रतिष्ठित है।[3] इसलिए रामानुज कहते हैं कि जीवात्मा और ब्रह्माण्ड सब ब्रह्म का ही शरीर है। तस्मात् विभिन्न वस्तु वाचक नाम अन्ततोगत्वा उसी परमात्मा और अन्तर्यामी परमात्मा का ही अभिधान करते हैं।[4] इसी प्रकार तत्वमसि महावाक्य में "त्वम्" शब्द का अर्थ ईश्वर के उस अन्तर्यामित्व से हैं, जो जीवात्मा को शरीर बनाकर संस्थित है। और "तद्" शब्द से तात्पर्य ईश्वर के उस रूप से जो विश्व का आदिकारणभूत हैं एवं सभी कल्याणकारो गुणों का आगार है।[5] उपनिषद् में है कि परमात्मा स्वरूपतः परिणाम और दोष रहित है और यह समस्त विश्व उसकी शरीरभूता प्रकृति की विकृति है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अद्वैतमत में ब्रह्म को श्रुत्याधार पर निर्विशेष ज्ञान-पात्र-स्वरूप वाला कहा गया है।[6] रामानुज इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि प्रथम तो कोई भी

---

१. य आत्मनि तिष्ठन्। बृहदा० ३-७ ॥

२. यस्यात्मा शरीरम् –पूर्वोक्तैव–३-७ ॥

३. य पृथिव्यां तिष्ठन् यस्य पृथ्वी शरीरम् – पूर्वोक्तैव ॥

४. सर्वस्य विदधिदवस्तूनो ब्रह्मशरीरत्वाद् सर्वशरीरं सर्वप्रकारं सर्वशब्दैर्ब्रह्मैवाभिधीयते। वे० सं० पृष्ठ ३४ ॥

५. तत्पदं जगतकारणभूतसकलकल्याणगुणगणाकरं निरवयं निर्विकारमाचष्ठे तत्वमिति तदेव ब्रह्म जीवान्तर्यामीरूपेण स्वशरीरजीवप्रकारविशिष्टमावष्टे। ब्रह्मण्येव त्वमितिद्वयो। पद्योवृत्तिस्वता। वे० सं० पृष्ठ ३५ ॥

६. अप्रमात्मा – प्रज्ञानघन एव – बृहदा० ४-५-१३ ॥

पदार्थं एकान्ततः, ज्ञानमात्र नहीं हो सकता और यदि मान भी लें तो ज्ञान उसका गुण होने के कारण निर्विशेष नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान रूप धर्म के द्वारा उसके स्वरूप को कहा गया है, केवल उसके ज्ञानमात्रत्व को नहीं।[1] क्योंकि उसका ज्ञानत्व ही सविशेषत्व है। दूसरे ज्ञान की शाखा के व्यतिरिक्त सत्ता भी असंभव है। अतः ब्रह्म ज्ञान और ज्ञाता दोनों हैं। इसके अतिरिक्त ज्ञान-मात्र से परमात्मा का अभिज्ञान भी नहीं हो सकता। प्रत्युत, ज्ञान उसके अन्य धर्मों के साथ एक धर्म ही है। श्रुतियों में इस विषय में पर्याप्त प्रमाण हैं। जिनमें परमात्मा को सविशिष्ट कहा गया है। कहीं उसे सर्वज्ञ और सर्वव्यापी कहा गया है।[2] उसकी स्वाभाविक ज्ञान, बल क्रियात्मक विविध शक्तियां हैं।[3] इस लिए ज्ञान उसके अनेक गुणों में एक गुण है। रामानुज के अनुसार यह कदापि संभव नहीं है कि उन गुणों में से कोई एक ही गुण उसके स्वरूप का पूर्णाभिधान कर सके। सत्यज्ञानादि गुण भीं वस्तुतः उसको सविशेष ही प्रतिपादित करते हैं। निर्गुणत्व की ओर संकेत करने वाली श्रुतियों का अर्थ यही है कि वह परमात्मा उन्हीं गुणों से सर्वथा रहित है, जो उसके अतिरिक्त पदार्थों (जीव और जगत्) से सम्बद्ध हैं।[4] अद्वैतवादी ब्रह्म के गुण निषेध प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः।[5] सूत्र के भाष्य में देते हुए कहा गया है कि ब्रह्म

---

१. ज्ञानेन धर्मेण स्वरूपमपि निरूपितं न तु ज्ञानमात्रं ब्रह्म।
वे० सं० पृष्ठ ४१॥

२. यः सर्वज्ञ सर्वविद्दित्यादिज्ञातृत्वश्रुते। पूर्वोक्तैव॥

३. परास्य शक्तिर्विविधयेत श्रूयते स्वाभाविकोज्ञानवलक्रिया च।
श्वेता० ६-८॥

४. निर्गुणवादाश्च प्राकृत—हेयगुणनिषेधपरतया व्यवस्थिताः॥
वे० सं० पृष्ठ १३८॥

५. ३-२-२१ ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य—यतश्च निषेधानन्तरं ब्रह्मणा-भयो गुणजातं ब्रवीति अतश्च प्रकृतिविशेषणप्रतियोगितामात्रम्

में इसके द्वारा भी (नैति-नैति) उन गुणों का निषेध किया गया हैं, जो उसे प्रकृति-आदि की भाँति ससीम करते हैं। श्रुतिनिर्दिष्ट नानात्व का निषेध जो उस परमात्मा के यथार्थ से सम्बद्ध है–का तात्पर्य उतना ही है कि ईश्वर से स्वतंत्र किसी भी अन्य वस्तु का अस्तित्व नहीं है। समस्त जागतिक पदार्थ और जीवात्मा तदाश्रित हैं, जो उसके शरीरवत् हैं।

शंकर मत में ब्रह्म को यद्यपि ज्ञान मात्र स्वरूप माना गया है किन्तु कहा गया है कि उसका स्वरूप अविद्या से तिरोहित होता है, और उस अवस्था में वह नानारूप में भासता हैं। रामानुज के द्वारा इसका खण्डन करते हुए तर्क दिया गया है कि–अविद्यावशात् स्वयं प्रकाश के स्वरूप के तिरोहित हो जाने का निम्न रूपों से कोई एक रूप हो सकता है–प्रथम प्रकाशमत्ता की उत्पत्ति में बाधा या दूसरे, प्रकाशमत्ता का पूर्ण रूप से विनाश।[1] किन्तु अद्वैत्वादियों के अनुसार प्रकाशमत्ता की कोई उत्पत्ति नहीं होती है। अतः इसका अर्थ हुआ कि दूसरी स्थिति ही होगी। जिसमें प्रकाशमत्ता का पूर्ण विनाश माना गया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रकाशमत्ता रूप ब्रह्म के स्वरूप का ही निर्वाण हो जाता है।[2] इस प्रकार अद्वैतवादी अविद्या का सिद्धान्त ब्रह्म को ही ग्रस लेता है।

अद्वैतवादी एक ओर तो कहते हैं कि ब्रह्म की स्वयं प्रकाशमत्ता पर अविद्या कोई प्रभाव नहीं डाल सकती मगर दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि अविद्योपहित होने के कारण ब्रह्म, जो वस्तुतः एक ही

ब्रह्मणः प्रतिषेधति – ब्रह्मणः सविशेषत्वं न प्रतिविध्यते अपितु पूर्वप्रकतेयत्तामात्रम् ॥

१. अविद्या प्रकाशस्तिरोहित इति प्रकाशेप्रति बन्धो वा विद्यमानस्य-विनाशो वा प्रकाशस्यामुत्पादयत्वाद्विनाशं एव स्यात्। वे० सं० पृष्ठ ६६ ॥

२. तिरोधानं नाम प्रकाशनिवारणं स्वरूपातिरेकप्रकाशधर्मानम्य-पानेन प्रकाशस्येवस्वरूपत्वात् स्वरूपनाश एव स्यात्। पूर्वोक्तेव ॥

है नानात्व की भांति प्रतीत होता है। दोनों ही परस्पर विरोधी हैं। क्योंकि प्रथम विचार इस बात का खण्डन करता है कि अविद्या का ब्रह्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, जबकि दूसरा विचार प्रथम विचार का खण्डन करते हुए यह पुष्ट करता है कि अविद्या का ब्रह्म पर कोई प्रभाव पड़ता है, जबकि दूसरा विचार प्रथम विचार का खण्डन करते हुए यह पुष्ट करता है कि ब्रह्म पर अविद्या का प्रभाव पड़ता है, तस्मादेव वह नानारूपों से भासित होता है।

अद्वैतवाद कीं अविद्या भंग के प्रसंग में आचार्य रामानुज ने श्री-भाष्य में स्पष्ट रूप से यह कथन किया है कि ब्रह्म को जीव रूप में भासित करने वाली अमानरूपा अविद्या या माया आश्रय ब्रह्म नहीं है। क्योंकि अखण्डकेरस विशुद्ध परमात्मा में किसी क्षेत्र का आश्रयत्व प्रमाणित ही नहीं हो सकता। दूसरे उस विशुद्ध ब्रह्म का अविद्या आवरण भी नहीं कर सकती।

निवर्तकानुपपत्ति में यह दिखाया गया है कि अविद्या ब्रह्म का ही एक अंश है तो उससे निवृत्ति कथमपि संभव नहीं होगी। इसी बात को अद्वैतमत के खण्डन में कहते हैं कि जीव और ब्रह्म का तादात्म्य ज्ञान जीवात्मापरक अविद्या को हटा देता है। अद्वैतवादियों का ऐसा कहना भ्रामक है। यदि अविद्या ब्रह्म के स्वरूप का एक भाग है तब संभव ही नहीं कि उस अविद्या से निवृत्ति हो सके। सभी प्रयास व्यर्थ होंगे क्योंकि सद् ब्रह्म का स्वरूपांश होने के कारण वह भी सदात्मक ही होगी। अतः मोक्ष की व्यवस्था भी न बन सकेगी।[1] ब्रह्म से भिन्न यदि अविद्या का माना जाये तो भी उसकी ब्रह्म से अलग सत्ता होगी, जो उस स्थिति में भी वह अबाधित होगी। क्योंकि जिस ज्ञान द्वारा अद्वैतवादी सन्निवृत्ति बताते हैं, वह ज्ञान स्वयं अविद्या की प्रकृति है। अतः वह किस अविद्या का निर्वतक हो सकता है।

---

१. ब्रह्मणो दोषत्वेसति तस्य नित्यत्वेन निर्मोक्षश्च स्यात्।
श्रीभाष्य — १-१-१ ॥

आचार्य रामानुज के अनुसार प्रश्न यह भी उठता है कि वह कौन है जो इस जगत् को मिथ्या मानता है। यह या तो ब्रह्म है या इस पर किसी प्रकार का किया गया अध्यास है ? यदि ब्रह्म को माना जाये तो उसका ज्ञावृत्त प्रमाणित होता है। और उस दशा में अद्वैतवादियों को उसे सगुण स्वीकारना पड़ेगा। और यदि ब्रह्म ज्ञाता नहीं है तो कोई अन्य अध्यास–जो जगत् को मिथ्या बताता है, तो रामानुज के मतानुसार उस अध्यास और उसकी हेतुभूता अविद्या का भी अस्तित्व मानना पड़ेगा।[1] ऐसा स्वीकार ब्रह्म की सत्ता के लिए अपघातक है। अतः किसी भी प्रकार ब्रह्म और अविद्या का तादात्म्य या सम्बन्ध नहीं बैठता।

महर्षि दयानन्द के अनुसार अद्वैतवाद के ब्रह्मवाद का खण्डन

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म तत्वतः निर्गुण है, क्योंकि यदि उसे सगुण माना जाये तो उसमें किसी सम्बन्ध का आरोप करना आवश्यक होगा। इसलिए पूर्ण ब्रह्म को निर्गुण माना गया है, वही निर्गुण ब्रह्म मायोपाधि से युक्त हो कर सगुण हो जाता है और उसी अवस्था के अवान्तर रूप में वह जीव हो कर भासित होता है। इस प्रकार शंकराचार्य ब्रह्म के पारमार्थिक और व्यावहारिक स्तर पर दो भेद किये हैं, क्रमशः विशुद्ध ब्रह्म – जो पूर्ण रूप से सच्चिदानन्द में होकर भी निर्गुण है और दूसरा सगुण ब्रह्म जो मायोपाधि ग्रस्त ब्रह्म का दूसरा रूप है। ये जीव और जगत् उस दूसरी कोटि के सगुण ब्रह्म की ही विभूत्ति हैं। जिसकी पुष्टि में वे अनेक उपनिषद् वाक्यों को प्रस्तुत करते हैं। इसी कारण सगुण ब्रह्म बनाम ईश्वर को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण माना गया है।

---

१. अध्यास्तं वेदमध्यासस्तन्मूलाविद्यान्तरं च निवर्तकं ज्ञानाविषयतया तिष्ठत्येव ॥ – वे० सं० पृष्ठ ८२ ॥

किन्तु महर्षि दयानन्द ने प्रबल रूप से शंकर के इस ब्रह्मवाद का खण्डन किया है। यद्यपि महर्षि भी शंकर की तरह ब्रह्म को निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार का स्वीकार करते हैं किन्तु उन के इस स्वीकरण का स्वरूप सर्वथा पृथक् है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि शंकर ब्रह्म के पारमार्थिक रूप अर्थात् सम्पूर्ण सत्ता को निर्गुण मानते हैं। दयानन्द इसे स्वीकार नहीं करते क्योंकि निर्गुण मात्र की तो उन के अनुसार सत्ता ही असंभव है। एक ओर तो अनेक ऋषि-मुनि उसे ध्याते हैं, ज्ञान के द्वारा लक्ष्य जताते हैं। ऐसी अवस्था में समस्त उपासना अर्चनादि कार्य किस में (जबकि इष्टदेव पूर्णतः निर्गुण है) और कैसे सफल (मोक्षादि) प्रदायक सिद्ध होंगे। शँकर ने जो व्यावहारिक स्तर पर ब्रह्म को सगुण माना है, वह मायोपाधि से युक्त रूप में माना जाता है। अर्थात् जो अविद्या ग्रस्त ब्रह्म है, वह महर्षि दयानन्द उस अखण्डेक रस ब्रह्म को इस प्रकार के दो रूपों में कदापि स्वीकार नहीं करते। उन के अनुसार ब्रह्म को न तो अविद्या से ग्रस्त होने की व्यवस्था है—सृष्टि-सृजनादि हेतु और न अविद्याग्रस्त होकर जीव स्वरूप में सांसारिक कष्ट, क्लेशादि के चक्र में भटकने की। उन के अनुसार तो अनादि पदार्थ तीन हैं एक ईश्वर द्वितीय जीव और तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण। इन्हीं को नित्य भी कहते हैं।[1] उन के अनुसार वह सम्पूर्ण ब्रह्म (ही) दोनों प्रकार का है अर्थात् निर्गुण और सगुण को उस परम्परावादी आशय के किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं करते जिसमें निर्गुण को निराकार और सगुण को साकार माना जाता है। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित और दूसरे के विरोधी गुणों से रहित होने से पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं, कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिस में केवल निर्गुणता या सगुणता हो। जैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान, मतादि गुणों से रहित होने से सगुण और रूपादि जड़ के अथाद्वैतवादि जीव के गुणों से

---

१. स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश – ६ ॥

रहित होने से निर्गुण कहाता है।[१] दयानन्द के अनुसार ब्रह्म सगुण होकर भी निराकार है और निराकार होकर भी वह बिना माया में बंधे सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। वे ब्रह्म के दोनों रूपों को नहीं स्वीकारते, क्योंकि शंकर के पूर्व विशुद्ध निराकार निर्गुण ब्रह्म को साकार सगुण करने वाली मायोपाधि की सिद्धि किसी भी प्रकार संभव ही नहीं होती। माया के सम्बन्ध में शंकर की सवर्णा शक्ति यहां जाकर पंगू हो जाती है, वे वहीं उस पर अनिर्वचनीयता की प्लेट लटका कर प्रतिपक्षी से पीछा छुड़ाने का प्रयत्न कर लेते हैं, प्रथमतः महर्षि दयानन्द के अनुसार सदसद् से भिन्न पदार्थ की सिद्धि नहीं होती। अनिवर्चनीयता होते हुये भी अविद्या की शंकर ने नित्य सत्ता स्वीकार नहीं की है, क्योंकि ऐसा करने पर दूसरा द्रव्य सत्ता में आता है और उससे उनके अद्वैदिकवाद का शामियाना अपने ही लैम्प से जल जाता है। उसे अनादि माना गया गया है। वह ब्रह्म को उपाधियुक्त करती है, ब्रह्म भी अनादि है। अतः उस का अर्थ हुआ कि दोनों का संयोग भी अनादि है और जब संयोग भो अनादि है तो ब्रह्म विशुद्ध कहाँ रह गया ? दयानन्द कहते हैं कि वह परिच्छिन्न होने से इधर-उधर जाता रहेगा। जहां-जहां जायेगा वहां-वहाँ ब्रह्म को अज्ञानी कर देगा।[२] और इस के अतिरिक्त अखण्डेकरस ब्रह्म के इस तरह केवल माया की उपाधि के लिये देश-विभाग नहीं किये जा सकते। वेदान्ती ६ पदार्थों को नित्य मानते हैं— (१) जीव (२) ईश्वर (३) ब्रह्म (४) जीव व ईश्वर–भेद (५) अविद्या (६) अविद्या और चेतन रुप ब्रह्म का योग।[१]

---

१. स० प्र०—सप्तम समुल्लास – पृष्ठ १३१ ॥

२. पूर्वोक्तैव – पृष्ठ १२९ ॥

१. जीवेशां च विशुद्धाच्चिदविभेदस्तयोर्द्वयोः। अविद्या सच्चितयोगः – षडस्माकमेनादयः ॥ सं० प्र० १२९ ॥

किन्तु महर्षि दयानन्द इस पर कहते हैं कि क्योंकि अविद्या के योग के बिना जीव और माया के योग के बिना ईश्वर तुम्हारे मत में सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए "तद्भितोयोगः" (अविद्या वा माया और चेतन रूप ब्रह्म का योग) जो छठा पदार्थ तुमने गिना है, वह नहीं रहा। क्योंकि वह अविद्या माया जीव ईश्वर में चरितार्थ हो गया और ब्रह्म यथा माया और अविद्या के योग के बिना ईश्वर जीव नहीं बनता। फिर ईश्वर जीव को अविद्या और ब्रह्म से पृथक् गिनना व्यर्थ है। इसलिये दो ही पदार्थ अर्थात् ब्रह्म और अविद्या तुम्हारे मत में सिद्ध हो सकतें हैं, छः नहीं।[1]

जैसा कि पहले बताया गया कि शंकर का पारमार्थिक ब्रह्म व्यावहारिक स्तर पर आकर मायोपाधि से युक्त होकर सृष्टि करता है, उसने उसकी स्थिति को अभिन्नमित्तोपादान कारण रूप माना गया है, किन्तु महर्षि दयानन्द ब्रह्म को सृष्टि का निमित्त कारण मानते हैं तो अद्वैतवाद के खण्डन में कहते हैं कि यदि जगत् का उपादान कारण ब्रह्म हो तो वह परिणामी, अवस्थान्तरयुक्त और विकारी हो गये, क्योंकि उपादान कारण के गुण, कर्म एवं स्वभाव आदि कार्य में भी आते हैं।[2] और जबकि—ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप, जगत् कार्य रूप में असत्, जड़ और आनन्द रहित, ब्रह्म, अज और जगत् उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म अदृश्य और जगत् दृश्य है, ब्रह्म अखण्ड रूप है और ब्रह्म से ही पृथिव्यादि कार्य उत्पन्न होवे तो पृथिव्यादि जड़ में वैसा भी जड़ हो जाए और जैसा परमेश्वर चेतन है, वैसा पृथिव्यादि कार्य भी चेतन होना चाहिए।[3]

दयानन्द, शंकर के अविद्या प्रतिबिम्बित परम ब्रह्म ही जीव हैं—के सिद्धान्त को खण्डित करते हुए कहते हैं कि प्रतिबिम्ब साकार

---

१. पूर्वोक्तव पृष्ठ १२६॥
२. स० प्र०—अष्टम समुल्लास —पृष्ठ १३६॥
३. पूर्वोक्तव॥

का साकार से होता है।[1] और दोनों पदार्थ भिन्न होते हैं जबकि यहां ब्रह्म सर्वथा निर्विकार, निराकार और सर्वव्यापक है और जीव तद्रूप ही है, तो फिर स्वान्तर्गत ही प्रतिबिम्ब भाषित हो सकता है? और न ही, दयानन्द के अनुसार अन्तःकरणोपाधि से उक्त सिद्धान्त की पुष्टि होती है।[2]

इस प्रकार महर्षि दयानन्द अपनी सबल उक्तिओं के आधार पर आचार्य शंकर के ब्रह्मवाद के सिद्धान्त को असिद्ध करते हैं।

दयानन्द का ब्रह्म निरूपण आचार्य शंकर के मत की समालोचना—

आचार्य शंकर का ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान है और दयानन्द का ब्रह्म निमित्तकारण स्वामी शंकर के सभी उदाहरण प्रायः भ्रम-स्थलों के हैं और दयानन्द को दृष्टान्त विश्व में कार्य और कारण, जो वर्तमान में सम्बन्ध रखते हैं उनके हेतु और उदाहरण हैं। जैसे घट, पट, हवाई जहाज, रेडियो, कार, मोटर, और संसार की समस्त वस्तुएं जिनका इस विकासमान जगत् में निर्माण हो रहा है। उन सभी में दयानन्द का सिद्धान्त प्रतिपादित है। समस्त वस्तुओं का निर्माण तीन कारणों से स्पष्ट रूप में है।

आचार्य शंकर ने जो शुक्ति रजत और रज्जु सर्प के दृष्टान्त दिये उन का निराकरण दयानन्द के मत में इस प्रकार किया जा सकता है कि कुछ अन्धकार और प्रकाश में एक रज्जु जो स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं हो रही थी उसे हमने सर्प समझा। यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि किसी वस्तु के ज्ञान का क्या साधन हैं? इसका उत्तर स्पष्ट है कि वस्तुओं का ज्ञान हमें प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा उपलब्ध होता है। जो रज्जु में सर्प का ज्ञान भासित होता

---

१. पूर्वोक्तैव – नवम समुल्लास – पृष्ठ १५४॥
२. विस्तार के लिये देखो – अध्याय ५॥

है वह ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से प्राप्त हो रहा है परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण जो दार्शनिकों ने किया है क्या वह उक्त दृष्टान्त में घट रहा है ? यह चिन्तनीय है। क्योंकि न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष का लक्षण किया है कि इन्द्रिय और अर्थ (पदार्थ या विषय) का सन्निकर्ष (संयुक्त) होकर हमें प्रत्यक्ष ज्ञान उपलब्ध होता है। उक्त दृष्टान्त में भी इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष है किन्तु सूत्रकार और उस पर वात्सायन मुनि भाष्यकार को इतना ही अभीष्ट नहीं है कि केवल प्रत्यक्ष उपलब्ध ज्ञान में इन्द्रिय और पदार्थों का सन्निकर्ष हो अपितु उस ज्ञान में कुछ शर्त भी लगा रखी हैं अर्थात् वह ज्ञान अव्यपदेश्य वाला हो, व्यभिचरित न हो और निश्चयात्मक हो। व्यभिचरित का अभिप्राय है कि दूर से या प्रकाश आदि की न्यूनता के कारण वस्तु दिखलाई कुछ देती है और वस्तुतः होती कुछ है जैसे ग्रीष्म ऋतु में जब भूमि से संस्पर्श करती हुई उष्ण वायु चलती है तो दूर से जल प्रतीत होता है। समीप जाने पर वह जल ज्ञान व्यभिचरित हो जाता है। उक्त दृष्टान्तों में भी कुछ ऐसी ही अवस्था है। वहां उष्णता के कारण, यहां प्रकाश की न्यूनता के कारण प्रत्यक्ष में व्यभिचार नाम का दोष है। जब प्रकाश वहां आ जाता है तो वह रज्जु में सर्पज्ञान व्यभिचरित हो जाता है। अर्थात् भ्रममात्र है। क्या आचार्य शंकर को अपने सिद्धान्त प्रतिपादन करने हेतु भ्रमस्थल के दृष्टान्त ही उपयुक्त लगे जो व्यभिचार दोष से ग्रसित है। अतः दृष्टान्त या हेतु प्रत्यक्ष ज्ञान के होने चाहिए। भ्रमस्थल के नहीं।

दूसरी आपत्ति यह है कि रज्जु को देखकर सर्प का ही ज्ञान क्यों हुआ ? वास्तव में वस्तुस्थिति यह है कि सत् सर्प हमने अनेकों बार देखा है उसके संस्कार हमारे मन में स्मृति रूप में हैं तभी हम उस रज्जु को सर्प समझ कर भयभीत हो जाते हैं अन्यथा बच्चे को भी भयभीत होना चाहिए। जिस बच्चे ने सर्प को नहीं देखा हो वह कभी भी रज्जु में सर्प ज्ञान उपलब्ध नहीं कर सकता। अतः ब्रह्म में जगत् का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता है जब तक

जगत् को न देखा हो। जगत् है ही नहीं तो उसका अध्यारोप कैसे किया जा सकता है जैसे सर्प को न देखा हो तो रज्जु में सर्प का अध्यारोप नहीं हो सकता। इसी प्रकार ब्रह्म और जगत् के विषय में मानना चाहिए।

तीसरी आपत्ति यह है कि क्या सर्प का संसार में अभाव है? इसका उत्तर यही है कि सर्प का अभाव नहीं है, अपितु सर्प अन्यत्र सत् रूप में विद्यमान है तो प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जगत् कहां उपस्थित है? आचार्य शंकर का जगत् हो ही नहीं सकता जैसे कि रज्जु में सर्प का नितान्त अभाव है, इसी प्रकार ब्रह्म में भी जगत् का नितान्त अभाव मानना पड़ेगा। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म संसार का उपादान कारण नहीं है। हां ब्रह्म निमित्त कारण अवश्य हो सकता है। उपादान वही होगा जिसका यह परिणाम है। ब्रह्म, ब्रह्म का परिणाम नहीं हो सकता है, क्योंकि इससे ब्रह्म विकारी हो जायेगा। जैसे दूध विकृत होकर दधि बन जाता है इसप्रकार हमारे सम्मुख संसार की जितनी भी वस्तुएं हैं वे सभी अपने उपादान कारण को विकृत कर निर्मित होती हैं। जिनका हम प्रतिदिन उपयोग करते हैं। जब संसार का शाश्वत प्रत्यक्ष नियम है तो आचार्य शंकर के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म में परिणाम कैसे नहीं होगा? समस्त संसार में यथार्थ कार्य अपने कारणों से उपलब्ध हो रहे हैं उनमें निमित्त और उपादान एक रूप में कहीं भी सिद्ध नहीं हो रहे हैं। तब दृष्टान्ताभाव में ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है? नहीं अपितु निमित्त कारण है।

आचार्य शंकर मुण्डकोपनिषद् के उपर्युक्त वचन (१।१।७)[1] की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जैसे चेतन आत्मा से अधिष्ठित मकड़ी के जड़ शरीर से और शरीर में शरीर उपसंहृत होता है। इत्यादि इस प्रसंग में यथा और तथा पद ध्यान देने योग्य हैं। ये दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक की जिस

---

१. यथोर्णनाभिः सृजतेगृह्णते च………॥

समानता की ओर संकेत करते हैं उस की अपेक्षा करने से वास्तविक अर्थ का अनर्थ होगा। दृष्टान्त में सर्वत्र उपादान की स्थिपि (सत्ता) पृथक् और अधिष्ठाता चेतन की पृथक्। यदि शरीर में चेतन आत्मा अधिष्ठाता नहीं है तो केवल मकड़ी के शरीर से जाला और मृत मानव देह (शवमात्र) से केशलोम उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। इस से यह स्पष्ट होता है कि चेतन नियन्ता के सहयोग से अचेतन कार्य अपने जड़ उपादान कारण से परिणत हुआ करता है। ठीक इसी प्रकार अक्षर, ब्रह्म से यह विश्व प्रकाश में आता है। ब्रह्म नियन्ता है जड़ प्रकृति नियम्य है, जो कार्य-विश्व का उपादान है।

आचार्य शंकर ने इस स्थिति का समाधान करने की भावना से कहा—दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक में अत्यन्त साम्य नहीं हुआ करता स्थूल पृथिव्यादि के दृष्टांत से कारण तत्त्व को स्थूल मान लिया जाय। यह संभव नहीं।[1] वस्तुतः यह कथन अत्यन्त शिथिल प्रतीत होता है। परिणामतः सदा स्थूल से सूक्ष्म तथा सूक्ष्म से स्थूल हुआ करते हैं, यहां दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक (स्थूल सूक्ष्म का प्रश्न नहीं है। प्रश्न है—उपादान और नियन्ता के भेद का; उपादान के जड़ तथा नियन्ता के चेतन होने का 'अक्षरात् संभवतीह विश्वम्' इस वाक्य से क्या आचार्य का यह तात्पर्य है कि अक्षर (ब्रह्म) ही परिणामतः होकर स्वयं जगत् बन जाता है? यदि ऐसा है तो चेतन तत्त्व को जड़ परिणाम मानने पर जड़ तत्व के चेतन परिणाम से इन्कार नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में आचार्य शंकर और चार्वाक एक स्तर पर आ खड़े होते हैं। कारण यह है कि शंकर के चेतन के अतिरिक्त उपादान तत्व को नहीं माना एकमात्र चेतन तत्व से

---

१. नहि दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक कयोरत्यन्तसाम्येन भवितव्यमिति नियमोऽस्ति। अपिचस्थूला पृथिव्यादयो दृष्टान्तत्वेनोपात्ता इति न स्थूल एव दार्ष्टांतिको भूतयोनिरभ्युपगम्यते।
अ० १—पा० २—सूत्र २१ पर शांकर भाष्य ॥

जड़ चेतन जगत की उत्पत्ति को स्वीकार किया। चार्वाक ने नियन्ता चेतन को न मान कर केवल जड़ उपादान तत्व से जड़ चेतन रूप समस्त विश्व की उत्पत्ति को माना है। दोनों के विचार से विश्व का मूल तत्व कोई एक पदार्थ है। एक के अनुसार चेतन दूसरे के अनुसार जड़। उस तत्व के लिए यह केवल दो विरोधी पदों का प्रयोग किया गया। केवल शब्दों के भिन्न होने से एकमात्र मूल तत्व के स्वरूप में भेद की कल्पना नही की जा सकती, इस रूप में दोनो आचार्य एकस्तर पर आ जाते हैं। इसका अभिप्राय किसो की निम्नता प्रकट करना नहीं है अपितु इतना है कि आचार्य शंकर की यह घोषणा सर्वथा समीचीन प्रतीत नहीं होती है कि मूल में एक मात्र चेतन तत्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अक्षर पद का मुख्य अर्थ अकार्य है। जो तत्व किसी का कार्य न हो। इसके अनुसार अक्षर पद का प्रयोग परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों के लिये होता है।[1] मुण्डकोपनिषद् के प्रस्तुत प्रकरण में ब्रह्म और प्रकृति दोनों के लिए पृथक् सन्दर्भों में इस पद का प्रयोग

१. गीता (८-२१) में ब्रह्म को अक्षर कहा हैं। वहीं अन्यत्र (गीता १५, १६, १८) जगत् के उपादानकारण प्रकृति को अक्षर बताया है। इन का शंकर भाष्य तथा आधुनिक लोकमान्य तिलक आदि की व्याख्या द्रष्टव्य है। श्वेताश्वेतर उपनिषद् (५-१) में कहा है "द्वे अक्षरे ब्रह्म परे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढ़े" दो अक्षर तत्व हैं, जिन ब्रह्म परे हैं, उत्कृष्ट हैं, जहां चैतन्य–अचैतन्य गूढ़ रूप से विद्यमान हैं। तात्पर्य यह, कि उन दो अक्षरों में एक चेतन और दूसरा अचेतन है। अचेतन तत्व परिणामी है और चेतन और दूसरा अचेतन है। अचेतन तत्व परिणामी और चेतन अपरिणामी। इन दोनों पर जो शासन करता है वह इन से अन्य है। वह तत्त्व ब्रह्म है। जिसे प्रारंभ में उन दोनों "अक्षर" तत्वों पर से बताया है। जहाँ जीवात्मा और प्रकृति को अक्षर कह कर उन से अतिरिक्त उत्कृष्ट सत्ता बृह्म की बताई है। प्रकृति किसी का

हुआ है। प्रारम्भ में (१।१।५।७) यह ब्रह्म के लिए प्रयुक्त है। आगे (२, ११।। २, २) प्रकृति के लिये इसका प्रयोग है। आचार्य शंकर ने इस विशेषता की अपेक्षा कर मुण्डक (२।१) के सन्दर्भ में अक्षर पदवाक्य ब्रह्म माना हैं जो प्रकरण के अनुसार प्रतीत नहीं होता। सन्दर्भ है–यह सत्य है–जैसे दहकती आग सहस्त्रों समान रूप (अग्नि के सदृश) चिनगारियां उत्पन्न हो जाती हैं। वैसे ही अक्षर तत्व से। हे सौम्य समस्त कार्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं और प्रलयकाल आने पर लीन हो जाते हैं यहां अक्षर पद स्पष्टत: प्रकृति का वाचक है। इस सन्दर्भ में सुरूपा। पद विशेष ध्यान देने योग्य है। अक्षर का ब्रह्म अर्थ करने में उसके कार्य जगत् के साथ समान रूपता को कहा जा सकता है? फलत: अक्षर पद यहां प्रकृति कां वाचक है। जिसकी समानता कार्य जगत् के साथ स्पष्ट है।[1]

उपनिषदों का अगला सन्दर्भ (२।२) इस तथ्य की ओर स्पष्ट करता है जहां ब्रह्म को दिव्य, अमूर्त शुभ्र आदि बतलाते हुए अक्षरा-तपरत: पर: कहा है। यहां अक्षर पद पूर्व सन्दर्भ में कहे अक्षर पदका अनुवाद हैं। उस अक्षर से परत पर: ब्रह्म को बताया है जिसका तात्पर्य-अक्षर प्रकृति से परे जीवात्मा चेतन उससे पर ब्रह्म है। इसप्रकार मुण्डक के उक्त सन्दर्भों में अक्षर पद का प्रयोग प्रकृति के लिए हुआ है, यह स्पष्ट होता है।[2] इस सन्दर्भ के आधार पर

कार्य न होने से अक्षर है। पर इस को सरूपा "क्षर" होने से भी कहा गया है। श्वेताश्वेतर के ये दोनों सन्दर्भ एक ही तात्पर्य को अभिव्यक्त करते हैं।

१. तदेतत्सव्यं–यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिंगा: सहस्रश: प्रभ-वन्ते सरूपा: तथाक्षरात् विविधा सोम्य भावा: प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ।। मुण्डकोपनिषद्–२-१ ।।

२. दिव्यो ह्यमूर्त: पुरूष: स बाह्याभ्यान्तरोह्यज: ।

चेतन ब्रह्म को जड़का उपादान कहना, सन्दर्भ के आशय के सर्वथा विपरीत है। जगत् अथवा जागतिक पदार्थों का नाम लेकर जो अन्य इनका कारण ब्रह्म को कहा गया है, वह सब ब्रह्म के अधिष्ठाता नियन्ता एवं निमित्त कारण होने को प्रकट करता है।

इस विवेचन के अधार पर स्पष्ट होता है कि अदृश्यत्व आदि गुण धर्मों द्वारा जिस ब्रह्म का वर्णन किया है वह न जीवात्मा के समान शरीर कोटि में आता है, और न वह जगत् का उपादान कारण संभव है। वह सबका अधिष्ठाता तथा नियन्ता होने के कारण उसके शरीर रूप में वर्णित अनादि प्रकृति से जगत् का निर्माण करता है। प्रकृतिस्वतः अनादिसिद्ध है उसकी ब्रह्म के शरीर रूप में कल्पना कर के उस जगत् की उत्पत्ति का वर्णन शास्त्रों में किया गया है। इसी आशय में मनु ने मानव धर्म शास्त्र के प्रारभं में कहा है—अभिध्यान पूर्वक ब्रह्म प्रजापति नें विविध प्रजाओं को अपने शरीर (प्रकृति – रूप) से सर्जन करने की इच्छा की।[1]

इस भावना को वहां स्पष्ट लौकिक रूप में प्रस्तुत किया गया है, वहां प्रकृति ने योषित् का रूप धारण कर लिया है। मुण्डक उपनिषद् (२।१।५) में सन्दर्भ है—पुमान् परमात्मा पोषित—प्रकृति में रेतः सिचन करता है।[2] परमात्मा का रेतः सिचन जगत्सर्ग के प्रकृति में प्रेरणा देना है। इसी भाव को ऋग्वेद में कहा गया है। आदि सर्ग में परमात्मा में जो संकल्प होता है वही जगत् पहला कारण है। क्रान्तदर्शी ऋषि अपने अन्तः कारण में विचार कर

अप्राणो ह्मिनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ।। मुण्डको० २।२।।

१. सोऽभिध्यायः शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
मनु० १–८ ।।

२. पुमान् रेतः सिंचति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरूषात् संप्रसूताः–
मु० २।१।५ ।।

बुद्धि से, इस बात को जान जाते हैं कि अव्यक्त में व्यक्त का सम्बन्ध ।[1]

महर्षि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रंथों में उपनिषदों के उन वचनों की व्याख्या यथार्थवादी: दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हैं जिनकी अन्य कुछ विद्वान् अध्यात्मवादी व्याख्या करते हैं। सत्यार्थ प्रकाश में वे स्पष्ट लिखते हैं कि यदि पुरूष को प्रधान शक्ति का योग हो तो पुरूष में संगा-पत्ति हो जाय अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्म से मिलकर कार्य रूप में संगत हुई है, वैसे परमेश्वर भी संगत हो जाय इसलिए परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं किन्तु निमित कारण है।[2] यदि चेतन से जगत् की उत्पत्ति हो तो जैसा परमेश्वर समग्रैश्वर्य युक्त है, वैसे संसार में सर्वैश्वर्य का योग होना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं है। अतः परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं, अपितु निमित्त कारण है अर्थात् तर्क से ही ऐसा नहीं अपितु उपनिषदें भी प्रधान ही को जगत् का उपादान कारण कहती है और ब्रह्म को निमित्त कारण स्पष्ट रूप में माना है।[3] श्वेताश्वेतर उपनिषद् स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करती है कि जो जन्म रहित सत्व रज तमोगुण रूप प्रकृति है वही सरूपाकार से बहुत प्रजा रूप हो जाती है। अर्थात् प्रकृति परिणामिनो होने से वह अवस्थान्तर हो जाती हैं। पुरूष अपरिणामी होने से वह अवस्थान्तर होकर दूसरे रूप में कभी नहीं प्राप्त होता। सदा कूटस्थ निर्विकार रहता है।[4] न्यायदर्शन भी ईश्वर को निमित्त कारण रूप में स्वीकार करता है। उक्त तीन कारणों को न्यायदर्शन स्वीकार

---

१. प्रधानशक्तियोगाच्चेत्संगापत्ति – सा० सू० अ० ५ सू० ८ स० प्र० ७ समु० ॥
२. सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्यम्–सा०द०अ०पू०सू०९ स०प्र०७ समु० ॥
३. श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य– स० द० अ० पू० स० १२– स० प्र०७समु० ॥
४. अजामेकां लोहितशुक्लं कृष्णां वह्वी? प्रजा: सृजमानां स्वरूपा:। श्वेता० अ० ४ मं० ५ स० प्र० ७ समु० ॥

करता है ऋषिदयानन्द की मान्यता है कि 'जगत् बनाने का जीव' में सामर्थ्य नहीं और जड़ में स्वयं बनाने का सामार्थ्य नहीं इससे सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही जगत् को बनाता है और सदा आनन्द में रखता है।'[1] पश्चिमी दार्शनिक थामस परमात्मा को सृष्टिकर्ता मानते हैं परन्तु उनके अनुसार सृष्टि का निर्माण परमात्मा ने शून्य से किया है महर्षि दयानन्द की दृष्टि से उपनिषदें ने शून्य से सृष्टि को स्वीकार नहीं करती हैं। ब्रह्म शून्य से सृष्टि का निर्माण नहीं कर सकता वरन् पहिले से ही विद्यमान प्रकृति से करता है।

उपनिषदों में जो मंत्र ऐसे आते हैं कि जिनकी व्याख्या प्रत्यय-वादी दृष्टिकोण वाली लगती है उनकी क्रमशः यहां मीमांसा अपेक्षित है। कुछ की यथार्थवादी कर चुके हैं। छान्दोग्य उपनिषद में कहा है कि वह आत्मा ब्रह्म हैं।[2] वास्तविक अभिप्राय यह है कि निश्चय से यह आत्मा बुद्धि ब्रह्म अर्थात् इन संसार के पदार्थों से महान् हैं।[3] उपनिषद के इस समस्त मंत्र का विवेचन करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि वह यह हमारा आत्माबुद्धि और मनका का प्रेरक है पुण्यादि करता है तो पुण्यात्मा, पापादि करता है तो पापात्मा है। ब्रह्म शब्द का महान् अर्थ आचार्य शंकर को अभीष्ट है इसलिए जीवात्मा जो प्रकृति के पदार्थों से महान् है ऐसा हो उपनिषद् को अभीष्ट प्रतीत होता है। अमरकोष तथा मेदिनी भी ब्रह्म शब्द को अनेक अर्थों में प्रयुक्त करते। यहाँ ब्रह्म का ब्रह्म-वेत्ता अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है।[4] ब्रह्म शब्द का अर्थ परमात्मा और जीवात्मा दोनों हो सकते हैं यह मुण्डक उपनिषद् में

---

१. सत्यार्थ प्रकाश—पृष्ठ ४४३ पर ॥
२. स वा अयं आत्मा ब्रह्म—बृहदा० ४।४।५॥
३. बृहत्वाद् ब्रह्म—जगत् के पदार्थों से विलक्षण अर्थात् महान् ॥
४. वेद, तत्व, तप, ब्रह्म, ऋत्विक, विपु (ब्रह्मवेत्ता) प्रजापति आदि अर्थों में ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया जाता है। (बृ० उ० शिवशंकर भाष्य पृष्ठ ४२५) ॥

स्पष्टरूपेण वर्णित है। ब्रह्म के दो रूप हैं पर ब्रह्म और ब्रह्म अर्थात् जीवात्मा पर ब्रह्म नहीं हो सकता है परन्तु परम ब्रह्म को प्राप्त कर ब्रह्म अर्थात् महान हो सकता है।[1] इसका अभिप्राय यह है कि निश्चय रूपेण जो परम ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म हो जाता है। अर्थात् ब्रह्म के गुणों (धर्मों) को धारण कर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि यह आत्मा उस परम ज्योति को प्राप्त कर अपने शुद्ध स्वरूप से विराजमान होता है।[2] और परमात्मा के धर्मों को धारण कर अपहतपाप्मा हो जाता है।[3] यहां पर स्पष्ट रूप से माना गया है कि परम ज्योति ब्रह्म के अर्थ में है और स्वेन कहकर आत्मा के अपने स्वरूप को लक्षित किया गया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में जो यह कहा गया है कि यह सब ब्रह्म है।[4] इसका भी वास्तविक अर्थ यह है कि ब्रह्म क्षत्रलोम देव तथा भूत यह सब आत्मा ब्रह्म के आश्रित हैं अर्थात् इनमें परम ब्रह्म से महान कोई नहीं है। ब्रह्म की महिमा का वर्णन किया है। इसीप्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में भी ब्रह्म को व्यापक बतलाया है। अर्थात् वह ब्रह्म नीचे, ऊपर, दक्षिण उत्तर आदि सभी स्थानों पर है। इस वचन के अन्त में कह दिया कि समस्त पदार्थों में आत्मा ब्रह्म है।[5] यहां यह उचित प्रतीत होता है कि जिन उपनिषदों के मन्त्रों की प्रत्ययवादी व्याख्या प्रस्तुत की जाती है उनके शब्दों में प्रस्तुत किया जाय। मैं ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थ हूँ। इसी प्रकार मंचान पुकारते हैं मंचान जड़ है, उनमें पुकारने का सामर्थ्य नहीं इसका सभी यह अर्थ ग्रहण

---

१. स यो वै तत् परमं ब्रह्मवेदब्रह्मैव भवति–मु० ३।२।९ ॥
२. परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते – छा० ८।३।४ ॥
३. य आत्मा अपहतपाप्मा–छा०
४. इदं सर्वं..............बृहदा० २।४।६ ॥
५. आत्मा एव इदं० सर्वं–छा० ७।२५।२ ॥

करते हैं कि मंचस्थ मनुष्य पुकारते हैं।[1] यदि यह कहा जाय कि ब्रह्मस्थ तो सभी पदार्थ परन्तु जैसा साधर्म्य युक्त निकटस्थ जीव वैसा अन्य नहीं और जीव को ब्रह्म हां ज्ञान और मुक्ति में वह ब्रह्म के साक्षात् सम्बन्ध में रहता है। इसलिए जीव का ब्रह्म के साथ तातस्थ्य या सहचरितोपाधि है अर्थात् ब्रह्म का सहचारी जीवात्मा है। इससे जोव और ब्रह्म एक नहीं वैसे कोई किसी से कहे कि मैं और यह एक हैं अर्थात् अविरोधी हैं वैसे जब जीव समाधिस्थ अवस्था में प्रेमबद्ध होकर निमग्न होता है, वह कह सकता है कि मैं और ब्रह्म एक अर्थात् अविरोधी, एक अवकाशस्थ है जो जीव परमेश्वर के गुण स्वभाव कर्म के अनुकूल अपने गुण कर्म स्वभाव करता है वही साधर्म्य से ब्रह्म के साथ एकता कर सकता है।[2] छान्दोग्य उपनिषद् के तत्वमसि।[3] पद का भी अर्थ का अनर्थ किया गया है। इस प्रकरण में सुषुप्ति अवस्था का वर्णन करते हुए महर्षि उद्दालक यह कहते हैं कि जब यह पुरूष सोता है तो अपने स्वाभाविक स्वरूप में अवस्थित रहते हैं। अर्थात् इसके आगन्तुक गुण उसके साथ नहीं रहते हैं। और हे श्वेतकेतु (तत् त्वं असि) वह आत्मा तू है। जीवात्मा का वर्णन इस खण्ड में हो रहा है फिर पता नहीं तत् शब्द का अर्थ ब्रह्म मानकर क्यों किया जाता है।

आचार्य शंकर ब्रह्म को एकमात्र पारमार्थिक सत् मानकर

---

१. अहं ब्रह्मास्मि। बृह० १-४-१०। मंचाः क्रोशन्ति। (सत्यार्थ० सप्तम समु०)॥

२. सत्यार्थ प्रकाश – ७ समु० पृष्ठ २१४ पर – प्रकाशक वेद प्रचार मण्डल॥

३. छान्दोग्य० ६-८-७ – स य एषोऽणिमा॥ ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्ऽयं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति। (आचार्य शंकर का अर्थ पूर्व पक्ष में द्रष्टव्य है यहां ऋषि दयानन्द का अर्थ दिया गया है। स० ७ समु०)॥

भी माया का आश्रय ग्रहण करते हैं । इनकी माया की विशेष समीक्षा आगे की जायेगी परन्तु यहां इतना अवश्य स्पष्ट करना आवश्यक है कि एकमात्र पारमार्थतः ब्रह्म होते हुए भी माया को अनादि माना है। एक ब्रह्म अनादि दूसरी माया अनादि। माया की उत्पत्ति को आचार्य शंकर स्वीकार नहीं करते हैं। जितने भी पदार्थ दृश्य, अदृश्य हैं उन सब में माया अवश्य है। फिर भी आचार्य शंकर ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानते हैं। जब ब्रह्म के साथ माया है तो केवल एक ब्रह्म को दोनों कारण स्वीकार करना कुछ हास्यास्पद सा प्रतीत होता है। हां यदि आचार्य माया की कल्पना नहीं करते तब ब्रह्म को निमित्त और उपादान कारण मान कर युक्तियों द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करते तो एक साहस की बात हो सकती थी परन्तु तब बौद्धों के विज्ञानवाद के समान सिद्धान्त होता। अन्तर चेतन और जड़ का रहता; अब आचार्य शंकर का ब्रह्म चेतन अवश्य है परन्तु न वह सृष्टिकर्त्ता है और न ही प्राणियों का कर्मफल प्रदाता है। वह निष्क्रिय है। इस दोष से बचने के लिए आचार्य ने समष्टिगत अज्ञान से शुद्ध सत्व प्रधान अंश से ईश्वर का निर्माण करना पड़ा। और मलिन सत्व प्रधान अंश से प्राज्ञ और तम प्रधान अंश से दृश्य संसार बना। यहां केवल चिन्तनीय यह हैं कहां तो आचार्य शंकर ब्रह्म में कोई भी गुण स्वीकार करने को तैयार नहीं और कहां उसी ब्रह्म से ईश्वर प्राज्ञ आदि की उत्पत्ति ? मायावादी यहां हेतु दे सकते हैं ये सब तो मायोपाधि चैतन्य है। यह सत्य है। परन्तु प्रश्न यह उत्पन्न होता हैं कि ईश्वर में चैतन्य अंश ब्रह्म का ही तो माना है। एक ओर आचार्य शंकर ईश्वर को सत्वप्रधानमायोपहित चैतन्य मानते हैं यदि ब्रह्म जो मायोपहित चैतन्य है उस का कारण क्या है ? क्या ब्रह्म विकारी नहीं हो गया ?। कहने का अभिप्राय यह है कि सृष्टिकर्त्ता के रूप में एक ईश्वर की कल्पना करने को बाधित होना पड़ा। आचार्य शंकर का ईश्वर जो समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी है वह भी अज्ञानग्रस्त है और वह भी एक दिन समाप्त

हो जायेगा। यह कल्पना ही प्रतीत होती है।

आचार्य के बृह्म का लक्षण तो हम देखते ही आयें हैं। वह लक्षण एक प्रकार से न वर्तमान में है और न भूत में हो सकता है, क्योंकि आपत्ति यह है कि आचार्य ने माया ईश्वर आदि को अनादि माना है इसका दूसरा अर्थ यह हुआ कि वह अनादि काल से मायोपहित है और वर्तमान काल में अपने लक्षणों से युक्त नहीं माना जा सकता इस का अभिप्राय: यह है जो लक्षण आचार्य ने किये हैं वे बृह्म में न घटते थे और न घटते हैं। जो वस्तु जैसा कि हम उस को परिभाषा कर रहे हैं वह वैसी न थी और न है। क्या उस वस्तु की वह परिभाषा या जो स्वरूप हमने बतलाया है वह परिभाषा और स्वरूप न होकर क्या उसे हम कल्पना मात्र नहीं कहेंगे? भविष्य में जब भी समष्टिगत अज्ञान समाप्त हो जायेगा तब वे लक्षण ब्रह्म में होंगे। इसे ब्रह्म की परिभाषा की कल्पना ही कहना अधिक समीचीन प्रतीत होती है।

अद्वैतवादियों का ब्रह्म निर्गुण (निर्विशेष) है। परन्तु महर्षि दयानन्द ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों स्वीकार करते हैं। आचार्य शंकर निर्गुण का अर्थ करते हैं सभी प्रकार के गुण (सविशेष) अर्थात् धर्मों से विहीन परन्तु आचार्य रामानुज ब्रह्म को सगुण मानते हैं। उन की मान्यता है कि कोई भी वस्तु उस के विशेषण अर्थात् उस के गुणों से ही विदित होती है। निर्विशेष वस्तु की कल्पना भी नहीं की जा सकती है परन्तु स्वामी दयानन्द दोनों के मध्य का मार्ग अपनाते हैं। वे सगुण और निर्गुण का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि "यद्गुणैस्सह वर्तमानं तत्सगुणं" गुणेभ्यों यन्निर्गतं पृथग्भूतं तन्निर्गुणम्।[1] अर्थात् जो गुण से सहित वह सगुण

---

१. एक प्रकार से रामानुज की युक्ति को ऋषि दयानन्द भी मानते हैं कि गुणविहीन वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती है परन्तु निर्गुण की नवीन व्याख्या करके आपने नया मत स्थापित किया है।

और जिन गुणों से रहित है वह निर्गुण कहलाता है। अपने-अपने स्वभाविक गुणों से सहित और दूसरी विरोधी गुणों से रहित होने से समस्त पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं।[1] अतः कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसमें केवल निर्गुणता या सगुणता हो किन्तु एक ही में निर्गुणता सदा रहती है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान बलादि गुणों से सहित होने से सगुण और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से निर्गुण है।[2] जैसा निर्गुण ब्रह्म आचार्य शंकर हमारे सम्मुख रखते हैं उस का तो चिन्तन भी करना असंभव है फिर उस की उपासना का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। आचार्य शंकर इस दोष का परिहार अपर ब्रह्म की उपासना की जा सकती है, यह कह कर करते हैं परन्तु स्वामी दयानन्द की मान्यता में यह दोष नहीं आता है क्योंकि वे ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों बतलाते हैं। यही उपनिषदों का मत है कि जिसकी व्याख्या इसी अध्याय में आगे की जा रही है साधक स्वामी दयानन्द के ब्रह्म की उस के स्वभाविक गुणों के आधार पर उपासना कर सकता है। परन्तु व्यर्थ के गुणों, जो उसके स्वभाव के विरुद्ध है ब्रह्म में आरोप नहीं किया जा सकता है इसी से ब्रह्म निर्गुण है।

कुछ विद्वान् यह भ्रान्ति करते हैं कि सगुण का अर्थ साकार और निर्गुण का अर्थ निराकार है। यह मान्यता उनकी समीचीन नहीं है। निराकार तत्व सगुण हो सकता है जैसे आकाश जिस का शब्द गुण है। इस के अतिरिक्त भी निराकारत्व भी स्वयं एक गुण है। परमात्मा निराकार है और स्वामी दयानन्द तथा उपनिषदें इसी एक निराकार परमात्मा की उपासना का विधान करते हैं।[1] आचार्य रामानुज की कल्पना साकार विष्णु की उपासना है।

---

१. सत्यर्थ प्रकाश — ७ समु० ॥
२. सत्यार्थ प्रकाश — ७ समु० ॥

परन्तु ऋषि दयानन्द सीधे केवल एक सत्य ब्रह्म की उपासना बताते हैं जिस का न तो कोई आचार्य शंकर के सगुण ब्रह्म की तरह निम्न रूप है और जो न आचार्य रामानुज की तरह साकार रूप वाला है। निराकार ब्रह्म की कोई मूर्त्ति भी नहीं हो सकती है। स्वामी दयानन्द वेदों के अनुसार मूर्ति पूजा का खण्डन करते हैं।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शंकर ब्रह्म को अज्ञेय मानते हैं। परन्तु दयानन्द के अनुसार उपनिषदों के विवेचन से ऐसा प्रतीत नहीं होता। ब्रह्म अव्याख्यायेय है ऐसा मानने में मुख्य रूप में एक श्रुति का अधिक प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है। उपनिषदों का यह वचन है कि "नेति नेति।"[2] जिसके अनुसार अज्ञेय कहा जाता है। परन्तु इस श्रुति पर आचार्य रामानुज की व्याख्या समीचीन प्रतीत होती है। वे न इति का अर्थ ग्रहण करते हैं इयत्ता अर्थात् वह ब्रह्म इतना ही नहीं अपितु जगत् की वस्तुओं से उसकी तुलना हीनोपमा द्वारा ही की जा सकती है। अर्थात् वह इतना ही नहीं अपितु बहुत अधिक महान्। उसकी महत्ता जगत् के पदार्थों से तुलना करने पर नहीं जानी जा सकती है। जैसा कि वेदों में हीनोपमा द्वारा उस ब्रह्म का स्वरूप बतलाया है कि वह ब्रह्म आदित्य जैसा तेज वाला है। परन्तु ब्रह्म का तेज तो अपरिमित है। जगत् में आदित्य से अधिक तेज नहीं है इसलिये उसकी उपमा द्वारा समझाया गया है। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म की आनन्दात्मक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है। डा० राधाकृष्णन भी इसी विचार से सहमत हैं उनके विचार इस प्रकार कहे जा

---

१. न तस्य प्रतिमा अस्ति। प्रश्न–परमेश्वर को आप निराकार मानते हैं या साकार।
उत्तर–निराकार मानते हैं।
सत्यार्थप्रकाश – ७ समु० पृष्ठ २२४ पर ॥

२. आदित्यवर्णं तमः परस्तात् ···· यहाँ ब्रह्म को आदित्य कहा है।

सकते हैं यथार्थ सत्ता विचार से भिन्न हैं। और उस तक उच्चतम अव्यवहित सान्निध्य की तुरीयावस्था में पहुँचा जा सकता है। वह अवस्था ऐसी है जो विचार एवं तदन्तर्हित भेदों से कहीं ऊपर है और जहां व्यक्ति प्रधान यथार्थ सत्ता के साथ एकात्म रूप हो जाता है। आनन्द उच्चतम परिणाम है। जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान एकाकार हो जाते हैं। यहां आकर दार्शनिक खोज समाप्त हो जाती है, इससे यह लक्षित होता है कि आनन्द से ऊंची और कोई सत्ता नहीं है। वही परम सत्ता है। यह आनन्द एक प्रकार का क्रिया शील सुखात्मक अनुभव अथवा क्षमता का अबाध उपयोग है। यह शून्य में जाकर विलोप हो जाना नहीं है। परन्तु जोवात्मा का पूर्णता को प्राप्त करना है।[1] भेद करके देखने वाले ज्ञानी अपने अधिक उत्कृष्ट ज्ञान के बल पर आत्मा का साक्षात्कार करते हैं। जो केवल आनन्द एवं अमरता के रूप में प्रकाश मान हैं।[2] सच पूछा जाय तो हम वस्तुतः आनन्द रूप उच्चतम यथार्थसत्ता का वर्णन करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। यह प्रश्न भी है कि यह अमूर्त या मूर्त रूप है। यह तर्क संगत नहीं है। बौद्धिक आवश्यकताएं हमें प्रेरित करती हैं कि हम कुछ न कुछ वर्णन अवश्य करें। उसे केवल भावात्मक रूप में मानने की अपेक्षा मूर्त रूप में समझना अधिक यथार्थ है। प्रत्येक उच्चतर तत्व निम्नतर तत्व की अपेक्षा अधिक ठोस और समवेत रूप होता है। इसलिए

---

१. मुण्डकोपनिषद् में मुण्डक २ के ४-५-६-७-८-९-१०-११ मंत्र द्रष्टव्य हैं।

२. बृहदा० २।५।१५—"सवा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्वं एते आत्मानः समर्पिता।" अयं... मध्वस्यात्मनः तेजो ···· अमृतमिदंब्रह्मेदं सर्वम्।
(बृहद्० २।५।१४)

आनन्द जो ब्रह्म है अन्य सब तत्वों की अपेक्षा सबसे अधिक समवेत तत्व है यही सभी वस्तुओं का निर्माण करता है। समस्त वस्तु समूह का धारण भी इसी से होता है। इसके अन्दर सब कुछ व्याप्य है। भिन्न-भिन्न भाग खनिज जगत्, वनस्पति, जीवन, जीव जन्तु-जगत् एवं मनुष्य समाज उस परमोत्कृष्ट सत्ता के साथ किसी अमूर्त रूप या तान्त्रिक विधि से सम्बद्ध नहीं है। वेद सब उसके अन्दर एकीभूत हैं और उसी के द्वारा अपनी सत्ता रखते हुए जो उन सब के अन्दर व्याप्त है। सब भाग इस विश्व ब्रह्माण्ड की इसी व्यापक आत्मा के अन्दर है अर्थात् व्याप्य है (जैसे सब एक धुरे के साथ जुड़े होते हैं और पहिये के वाह्य घेरे के अन्दर भी है इसी प्रकार सब प्राणी, सब देवता, समस्त लोक और सब अवयव भी उसी आत्मा में निहित हैं अर्थात् वह सब में व्यापक होकर सबमें गति प्रदान कर रहा है। यह वह पुरातन वृक्ष है जिसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं और जिसकी शाखायें नीचे की ओर जाती हैं वह प्रकाश का पुंज उज्जवल ब्रह्म है जो अमर है सब लोक उसी के अन्दर रहते हैं तथा उसके बाहर कुछ नहीं हैं।[1] इस उक्त आनन्द रूप में परमसत्ता की व्याख्या से इस बात का खण्डन हो जाता है कि परम सत्ता अव्याख्येय है। आचार्य रामानुज का ब्रह्म संहत रूप आनन्द की प्रामाणिका सत्ता है। या यूं कहिये कि यथार्थ है। जिसकी अभिव्यक्ति विचार शक्ति के अन्दर होती है। इसी को रामानुज ने उच्चतम ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया है परन्तु आचार्य शंकर का ब्रह्म जो सब गुणों से मुक्त है, निरूपाधिक सत्ता है। अथवा निर्गुण ब्रह्म है अथवा रामानुज का ब्रह्म सगुण और आचार्य शंकर का ब्रह्म निर्गुण है महर्षि दयानन्द ने इस समस्या

---

१. ऊर्ध्वमूलो अवाक् शाखः एषोऽश्वत्थ सनातनः तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥ तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येतिकश्चनरतद्वैतत् ॥ कठ० ६-१ ॥ द्रष्टव्य डा० राधा-कृष्णन् – इण्डियन फिलासफी-उपनिषदों का दर्शन ॥

का समाधान निर्गुण और सगुण की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करके कर दिया है। अतः ब्रह्म सगुण और निर्गुण हैं। अतः हम दोनों आचार्यों का समन्वय करने का प्रयास कर सकते हैं। ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में उपनिषदों में माना गया है जिसकी सिद्धि आगे की जा रही है। परन्तु आचार्य शंकर का अज्ञेय ब्रह्म का विचार ज्ञेय ब्रह्म के विचार से है।

दयानन्द द्वारा रामानुजीय मत का खण्डन—

रामानुज आचार्य विष्णु को अखिल ब्रह्माण्ड का स्वामी और पूर्ण ब्रह्म मानते हैं और उस को नित्यविभूति लोक में संस्थित मानते हैं। रामानुज के मत में ब्रह्म, जीव, प्रकृति तीनों पृथक्-पृथक् तत्व हैं तथापि वे उस परमात्मा जीवात्मा का अन्तर्यामी हो कर उस के कार्यों के प्रति प्रेरित करता है। वे मोक्ष प्राप्ति हेतु भक्ति पर बल देते हैं और साधनभूत भक्ति में मूर्ति पूजादि का विधान करते हैं। क्योंकि, यह विगत पृष्ठों पर स्पष्ट किया जा चुका है कि रामानुज परमात्मा को तत्तदगुणाधार एवं तत्तद्कार्याधार ब्रह्म प्रपंच मानते हैं। उनमें से अर्चादि मूर्त्तियों में अन्तर्भसित परमात्मा के रूप में और उस के विभवादि रूप के द्वारा संसार में रामकृष्णादि के रूप में स्वरूप और शक्त्यावेशादि अवतरण भी मानते हैं। रामानुज ने भक्ति की आचार-संहिता में चक्रादि चिन्हों पर भी बल दिया है—जैसा कि दयानन्द ने अपने सत्यर्थप्रकाश "रामानुजपटलयपद्धति" नामक किसी पुस्तक का उद्धरण देकर बताया है।

दयानन्द रामानुज की ईश्वर सम्बन्धी कुछ मान्यताओं का तथा भक्ति की आधार-मान्यताओं का सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में विशद् खण्डन करते हैं।

विष्णु को ब्रह्म मान कर शोधादि के खण्डन की बात को दृष्टि पथ में रख कर दयानन्द कहते हैं— "एक अखण्ड सच्चिदानन्द अनन्त स्वरूप परमात्मा के विष्णु रूद्रादि अनेक नामों का अर्थ

जैसा कि सत्यार्थ प्रकाश में समुल्लास में किया है, उस सत्यार्थ को न जान कर शेष शाक्त, वैष्णवादि सम्प्रदायों के लोग परस्पर एक दूसरे के नाम की निन्दा करते हैं। .... यह सब विष्णु रुद्र शिवादि नाम एक अद्वितीय सर्वनियन्ता सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर के अनेक गुणों, कर्म, स्वभावयुक्त होने से उसी के वाचक हैं।[1]

दयानन्द, रामानुज के विशिष्टाद्वैत की आलोचना करते हुए कहते हैं ''''रामानुज का इस अंश में, जो कि विशिष्टाद्वैत जीव और माया (प्रकृति) सहित परमेश्वर एक हैं, यह तीन का मानना और (पुनः) अद्वैत का कहना सर्वथा व्यर्थ है।

रामानुज दर्शन में परमात्मा को जीवात्मा के वर्णों का प्रेरित कहा गया है। साथ ही, कहा गया है कि परमात्मा दयालु हैं, वह जब कृपावान् होता है तो अपने भक्तों के पापों को क्षमा भी कर देता है। दयानन्द उक्त दोनों मान्यताओं का खण्डन करते हैं। उन के अनुसार जीवात्मा का कर्तृत्व स्वतन्त्र है, वह रामानुजवत् ईश्वराधीन नहीं है। क्योंकि यदि परमेश्वर कर्म कराता तो कोई जीव पाप नहीं करता, क्योंकि परमेश्वर कर्म कराता तो कोई जीव पाप नहीं करता, क्योंकि परमेश्वर पवित्र और धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता। इसलिए जीव अपने कामों को करने के लिए स्वतन्त्र है।[2] इसी प्रकार दयानन्द रामानुजीय परमात्मा द्वारा भक्तों के पापों को क्षमा करने की मान्यता का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि परमात्मा पाप क्षमा करें तो उस का न्याय नष्ट हो जाये और सब मनुष्य महा-पापी हो जायें। क्योंकि क्षमा की बात सुन ही के उन को पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाये।[3] इसलिए परमात्मा किसी के कर्मों के फलों को अपनी इच्छा से निरस्त नहीं कर सकता।

---

१. पूर्वोक्तैव – एकादश समुल्लास – पृष्ठ २०३ ॥
२. पूर्वोक्तैव – सप्तम समुल्लास – पृष्ठ १२६ ॥
३. वही पृष्ठ १२५ ॥

रामानुजीय मत में मुक्ति साधन स्वरूप भक्ति में मूर्ति पूजा का महत्वपूर्ण स्थान है। रामानुज के परमात्मा के अर्चादि रूप मूर्त्तियों में अपनी संस्थिति रखते हैं और विभवादि रूप से वे लोक कल्याणार्थ एवं भक्तों पर कृपा हेतु स्वरूपावेश और शक्ति-आवेशादि रूप से अवतरण भी करते हैं। दयानन्द परमात्मा को इस प्रकार के विभिन्न रूपों में विखण्डित करना वेद-विरुद्ध बताते हैं। परमात्मा के संसार में अवतरण की वे तीव्र भर्त्सना सी करते हुए कहते हैं- "अव एकपात्"[1] अकायम्[2] इत्यादि विशेषणों से परमेश्वर को जन्म-मरण और शरीरधारण रहित वेदों एवं उपनिषदों में कहा है। तथा युक्ति से भी परमेश्वर का अवतार कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जो आकाशवत् सर्वत्र व्यापक अनन्त और सुख-दुःख इत्यादि गुण रहित है, वह एक छोटे से वीर्य (क्षुद्रण), गर्भाशय और शरीर में क्यों कर जा सकता है? आता जाता वह है कि जो एकदेशीय हो और जो अचल, अदृश्य, जिस के बिना एक परमाणु भी खाली नहीं है। उस का अवतार कहना जानों बन्ध्या के पुत्र का विवाह कर उस के पौत्र के दर्शन करने की बात कहना है।[3]

रामानुज मतानुयायी कहते हैं कि यदि ईश्वर अवतार न लें तो कंस रावण आदि दुष्टों का विनाश न हो। इस के सन्दर्भ में दयानन्द कहते हैं-प्रथम तो जो जन्मा है, वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है। जो ईश्वर अवतार शरीर धारण किये बिना जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करता है, उस के सामने कंस और रावणादि एक तृण के समान भी नहीं।[4] अतः दयानन्द के अनुसार उपनिषदों में अवतारवादी धारणा सर्वथा नहीं है यह निर्मूल और वेद विरुद्ध है।

---

१. ऋग्वेद – ७-३५-१३ ॥
२. यजुर्वेद – ४०-८ ॥
३. सत्यार्थ प्रकाश–एकादश समुल्लास–पृष्ठ २०५ ॥
४. पूर्वोक्तैव – सप्तम समुल्लास – पृष्ठ १२५ ॥

इसी प्रकार रामानुजीय मत में मूर्त्ति पूजा के अनुष्ठान का प्रबल रूप में खण्डन करते हुए वैष्णवों के मूर्त्तिपूजा विषयक इस तर्क का कि परमेश्वर निराकार है, वह ध्यान में नहीं आ सकता इसलिए अवश्य मूर्त्ति होनी चाहिये क्योंकि कुछ भी यज्ञादि पंचाग्नि अनुष्ठान न करने वाला व्यक्ति कम से कम मूर्त्ति के समक्ष जा कर हाथ जोड़ कर परमेश्वर के नाम का स्मरण तो कर लेना है – उस का खण्डन करते हुए दयानन्द कहते हैं – जब परमेश्वर निराकार, सर्वव्यापक है, तब उस की मूर्त्ति नहीं बन सकती। और जो मूर्त्ति के दर्शनमात्र से परमेश्वर स्मरण होवे तो परमेश्वर के बनाये पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, आदि अनेक पदार्थ, जिनकी ईश्वर ने अद्भुत रचना की है, क्या ऐसी रचना युक्त पृथ्वी, पहाड़ आदि परमेश्वर रचित महा मूर्त्तियों को, जिन पहाड़ आदि से मनुष्य कृत मूर्तियां बनती हैं, उन को देख कर परमेश्वर का स्मरण नहीं हो सकता ?[1]

इस पर वैष्णव कहते हैं कि जब परमेश्वर व्यापक हैं तो मूर्ति में भी हैं, इसके उत्तर में दयानन्द कहते हैं कि जब परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है तो किसी एक वस्तु में परमेश्वर की भावना करना, अन्यत्र न करना, यह एक ऐसी बात है कि जैसी चक्रवर्ती राजाओं को सब राज्य की सत्ता को छुड़ाकर छोटी सी झोपड़ी का स्वामी बनाना।[2]

वैष्णवों का तर्क है कि जब तक वेदमंत्रों से आह्वान नहीं करते तब तक देवता मूर्ति में नहीं आता और आह्वान करने से आता है, और अनन्तर विसर्जन करने से चला जाता है। महर्षि दयानन्द वैष्णवों अर्थात् रामानुजीय मातावलम्बियों के तर्क की दूषणता का बोध कराते हुए कहते हैं कि यदि मंत्र पढ़ कर आह्वान करने से देवता आ जाता है, तो मूर्ति चेतन क्यों नहीं हो

१. पूर्वोक्तैव – एकादश समुल्लास – पृष्ठ २०४ ॥
२. पूर्वोक्तैव – पृष्ठ २०५ ॥

जाती ? और विसर्जन करने से चली क्यों नहीं जाती ?' इसके अतिरिक्त प्रश्न उठता है कि जो परमात्मा रूप देवता सर्वत्र व्यापक है, वह कहां से आता है और कहां को जाता है ?

दयानन्द "न तस्य प्रतिमा अस्ति:"[2] आदि श्रुतियों के आधार पर मूर्ति पूजादिक कार्यों को पापोद्भावक बनाते हैं।[3]

इसी प्रकार दयानन्द शंख, चक्र, पुण्ड आदि वैष्णव चिन्हों को वेद विरुद्ध एवं निस्सार बताते हैं[4]।

एकेश्वरवाद तथा बहुदेववाद—

वेदों में भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न नाम और रूपों से देवों का स्मरण किया गया है। यह उपासना उन्हें एक सम्पूर्ण देव मान कर चलती है, कहीं अग्नि को पूर्ण देव मान कर स्तुति की जा रही है तो कहीं इन्द्र को ही सर्वोत्तम मानकर उससे अपनी रक्षा आदि की कामना की जा रही है। कहीं रुद्र का ईश्वरत्व प्रकट हो रहा है तो कहीं वरुण और मित्र का। कहीं सूर्य के गीत गाये जा रहे हैं तो कहीं पूजन् के। कहीं सविता को अखिल विश्व का स्वामी बताया जा रहा है तो कहीं भग को। और कहीं विष्णु को ही इन समस्त तीनों लाकों का आराधक मानकर उपासना की गई है। इस प्रकार वेदों में बहुत से देवों की स्पष्ट सत्ताएं प्रस्थापित की हुई मिलती हैं। ये देवता द्युलोक के आवासी भी हैं और अन्तरिक्ष के भी। ये प्राकृतिक शक्तियां भी कहीं जाती हैं और भाव-संबलित आकारधारी भी। इन सबको अपने-अपने सन्दर्भों में विशिष्ट-२ व्यक्तियों से युक्त माना गया है। अमरत्व और अपरिवर्तन शीलता इनके गुण हैं। यद्यपि वे असीम, अनन्त सर्वव्यापक

१. पूर्वोक्तव ॥
२. यजुर्वेद – ३२-३, ४०९ ॥
३. जब वेदों में मिषिद्ध मूर्ति पूजादि कर्मों को तुम करते हो तो पापी क्यों नहीं ? (स०प्र० एकादश समुल्लास – पृ० २०५)॥
४. पूर्वोक्तव – पृष्ठ २०१-२ ॥

नहीं हैं तथापि उन्हें विपुल शक्ति सम्पन्न माना गया है। संसार का कल्याण अकल्याण इन्हीं को कृपा पर आधारित माना गया है। इसलिए मानव मात्र से उन को प्रसन्न कर के जगत् कल्याण हेतु कामना करने का उपदेश दिया गया है। प्रकृति के विभिन्न क्षेत्रों का अधिनायक इन्हीं देवताओं को माना गया है। उनका पृथक्-पृथक् अपना निर्धारित क्षेत्र बतलाया गया है।

यही बहुदेववाद का विचार शनैः-शनैः प्रगति की ओर अग्रसर होता है। और सभी शक्तियों, सभी देवताओं के ऊपर एक अमोघ शक्ति का उद्घोषण वेदों में (ही) होता है। एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति—जो कहकर उसको ही इन्द्र, विष्णु ब्रह्मा, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अर्यमा, रूद्र, पूजन्, सविता और भग देवता बताया जाता है।[1] पूर्वोक्त समग्र बहुदेववाद की प्रतिच्छाया एकेश्वरवाद के पूर्णालोक में सिमट जाती है। सभी शक्तियां, सभी व्यक्तित्व या तो उसी के द्वारा आयोजित बताते जाते हैं अथवा उसी को इन भिन्न-भिन्न रूपों में देखा जाता है। कहीं उसे विराट् की संज्ञा दी जाती कहीं उसे हिरण्यगर्भ कहा जाता है। सब नाम धारी देवताओं का उसी का समाधार कहा गया है।[1] इतना ही नहीं, उसे समस्त

---

१. (क) त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुद्रयोनमस्यः।
त्वंब्रह्म रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्व विधर्त्तं सर्वसे पुरध्या॥
ऋग्वेद् – २-१-३ ॥

(ख) त्वमग्ने राजा वरूणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्मईऽयः।
त्वमर्यमा भवसि यस्य संभुजंतवमंशो विदये देवभाजयुः॥
ऋग्वेद् २-१-४ ॥

(ग) त्वमग्ने द्रविणोदा अरंकृते त्वं देवः सविता रत्नधा असि।
त्वं भर्गो नृपते वस्व ईशिषे त्वं पायुर्दम यस्तेऽविधात्॥
ऋग्वेद २-१-७ ॥

(घ) इद्रं मित्रं वरूणमग्निमाहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातारिश्वानमाहुः॥
ऋग्वेद १-१६४-४६ ॥

जगद्रूप भी कहा गया है।[1] महर्षि यास्क भी कहते हैं कि—महाभाग्यवाद् देवता या एक आत्मा बहुधा स्तुयते। (निरूक्त-देवतकाण्ड ७।१)। दयानन्द इन उक्त देव शक्तियों को परमात्मा की ही विभिन्न शक्ति मानते हैं।

आचार्य रामानुज और महर्षि दयानन्द दोनों ही दार्शनिक एकेश्वरवाद के समर्थक हैं।[1] दोनों एक मात्र परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करने वाले हैं। किन्तु दयानन्द का एकेश्वरवाद रामानुज के एकेश्वरवाद से उन अर्थों में भिन्नता रखता है, जिन अर्थों में रामानुज सर्वेश्वरवाद की ओर अग्रसर होते प्रतीत होते हैं।

आचार्य शंकर ने सम्पूर्ण अर्थों में सर्वेश्वरवाद को स्वीकार किया है। उन्होंने परमात्मा का एकात्मक प्रतिपादित करने वाली श्रुतियों के आधार पर जिनमें—सर्वं खल्विदं ब्रह्म "नेह नानास्ति किंचन" एक ब्रह्म सत्य' इत्यादि हैं। शंकर ने परमात्मा को परम सत् ही नहीं प्रत्युत एकमात्र तत्व स्वीकार किया है। शंकराचार्य के अनुसार यह समस्त जगत् मिथ्या है। मिथ्याज्ञान किंवा अविद्या का विकार है। जीव भी अन्तकरणावच्छिन्न परमात्मा ही है। अतः वह भी उस परमात्मा से भिन्न नहीं है। इसलिये जगत् के मिथ्या होने से, जीव के भी ब्रह्म होने से एकमात्र बस ब्रह्म ही परम सत्य है। अन्य किसी भी तत्व की सत्ता सत्य नहीं है। इस प्रकार आचार्य का एकतत्ववाद अपने सम्पूर्ण में सर्वेश्वर है। यह जगत् और यह जीव अन्ततोगत्वा उसी के रूपान्तरण है।

---

१. यो देवानां नामथ एक एव। ऋग्वेद – १०-८३-३, यजु० १७-२७, अथर्व० – २-१-३॥
२. यजु० ३२-१॥
३. (क) स० प्र० पृष्ठ ११५॥
(ख) वासुदेवा सर्वम् – गीता – रा० भा० ७-१४॥
(ग) सर्ववेदान्तेव सर्वे शब्दैः परमकारणतया जयमेव गीतये इत्यर्थः॥ (वेदार्थ-संग्रह-पृष्ठ १८०)॥

आचार्य रामानुज उक्त सर्वेश्वरवाद की ओर तो बढ़ने को उत्सुक से प्रतीत होते हैं किन्तु अन्य तत्वों का यथार्थ उनके विचारों के पैरों को बांधता हुआ सा प्रतीत होता है। इसलिये वे उस रूप में सर्वेश्वरवादी नहीं बन पाते, जिनमें शंकराचार्य हैं। रामानुज के अनुसार जीव और जगत् ईश्वराश्रित ही हैं। इसलिए जीव और जगत् अपने-अपने स्वभावों के कारण ईश्वर से भिन्न होकर भी ईश्वर से अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक शरीर अपने अस्तित्व के लिये अपनी आत्मा पर निर्भर करता है, किन्तु वह आत्मना से भिन्न होता है, उसी प्रकार जीव और जगत् परमात्मा का सम्बन्ध है। रामानुज इसी अभिन्नता के आधार पर परमात्मा को उपादान कारण एवं निमित्त कारण स्वीकार करते हैं। इस अर्थ में वे अद्वैतवाद, अभिन्ननिमित्तोपादानेश्वरवादो हैं। इस-लिए वे भी सर्वेश्वरवादी ही हैं। किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि शंकराचार्य अभिमत जीव–जगत् को परमात्मा नहीं मानते, प्रत्युत उनकी अपनी–अपनी सत्व को सत्य भी मानते हैं। इसलिये वे त्रितत्व समर्थक होकर भी सर्वेश्वरवादी हैं। उनका सर्वेश्वरवाद (विशिष्टावैत) उन्हें उपान्तरित सर्वेश्वरवादी कहने के लिए बाध्य करता है, यही उनका अपना वैशिष्ट्य हैं। जिनके कारण–अर्थात् जीव और जगत् विशिष्ट–परमात्मा को स्वीकार करने से विशिष्टाद्वैतवादी हैं।

किन्तु दयानन्द इस प्रकार का उपान्तरित सर्वेश्वरवाद स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार परमात्मा की सत्ता शाश्वत है और सर्वोत्कृष्ट है, किन्तु जीव और जगत् की सत्ता भी अनादि है, तस्मात् वे दोनों भी यथार्थ हैं। यद्यपि ईश्वर के साथ उनका व्यापक सम्बन्ध है, किन्तु किसी भी प्रकार वे अपनी यथार्थता के लिए ईश्वर के आश्रित नहीं हैं। दयानन्द, आचार्य रामानुज की भांति त्रितत्व का मूल किसी एक (परमात्मा) को ही नहीं मानते। उनके त्रित्व अपने-अपने में सर्वथा सत्य हैं और यथार्थ हैं। सृष्टि के के मूलभूत हेतु जगत् की पृथक् सत्ता अभिस्वीकृति करने के कारण

वे परमात्मा को न्याय-दर्शन की भांति सृष्टि के प्रति मात्र निमित्त कारण मानते हैं। इस अर्थ में निमित्तेश्वरवादी हैं। इसलिए वे त्रितत्व के यथार्थ्य को अंगीकार करने के कारण सर्वेश्वरवादी नहीं कहे जा सकते हैं। तस्मात् एकेश्वरवादी तो वे अवश्य हैं किन्तु सर्वेश्वरवादी नहीं।

तत्व मीमांसा दृष्टि से कहा जाता है कि आचार्य शंकर अद्वैतवादी किंवा सर्वेश्वरवादी अर्थात् एकतत्वमात्रवादी हैं, रामानुज त्रितत्ववादी हैं, और उस त्रितत्व का एक ही को मूल मानने के कारण विशिष्टाद्वैतवादी किंवा उपान्तरित सर्वेश्वरवादी हैं। किन्तु दयानन्द पूर्णतः त्रितत्ववादी है और उन त्रितत्वों के सम्पूर्ण याथार्थ्य को स्वीकार करने के कारण एकेश्वरवादी हैं। दर्शन की भाषा में उन्हें त्रैतवादी कहना ही उपयुक्त होगा। वेद में ईश्वर के स्वरूप के विषय में यथार्थवादी दृष्टिकोण द्वितीय अध्याय में देख आये हैं। यहां अति संक्षिप्त में ईश्वर के विशेषण इसप्रकार हैं—

ईश्वर सत् है,[1] चित है।[2] और आनन्द है।[3] अर्थात् सच्चिदानन्द हैं। वह निराकार,[4] सर्वशक्तिमान्[5] न्यायकारी,[6] और दयालु है।[7]

---

१. ऋग्वेद –१।१६४।४६, अथर्व० – १०।८।६, यजु० ३२।८ ॥
२. अथर्व० – १८।४।१४, ऋक्० ४।३१।२, यजु० ३६।५ ॥
३. अथर्व० – २।१।५; यजु० ११।१०, ऋक्० १०।१२१।१ – यहां पर क पद आनन्दस्वरूप वाचक है।
. यजु० – ४०।८, ३१।१३, ३१।४, ३२।१, ऋक् – ८।६८।११, १।२६।१४, १६।७।६ ॥
५. ऋक्० – ८।१४।२१, ८।३२।१५, १०।५५।६, ६।२५।५, अथर्व० १०।८।२४ ॥
६. ऋक्० ८।४३।२४, अथर्व० १।२०।४, ४।१।१६६ ॥
७. ऋक्० ५।६४।३, २।४१।११, ३।८७।७ ॥

अजन्मा,[१] निर्विकार,[२] अनादि,[३] अनुपम,[४] सर्वाधार,[५] और सर्वेश्वर[६] होने के साथ-साथ वह सर्वव्यापक है।[७] वह सर्वान्तर्यामी[८] और सर्वज्ञ[९] भी है। अजर,[१०] अमर,[११] अभय,[१२] नित्य,[१३] पवित्र[१४] स्वभाव वाला वही जगत्कर्त्ता[१५] है। वह उपास्य[१६] देव है।

मूल उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप—

१. ईशावास्योपनिषद्—वह परमात्मा कंपन नहीं करता है

---

१. ऋक्० १।६७।३, ७।३५।१३, यजु० ३१।१९, ४०।८ ॥
२. ऋक्० १०।११।१३, ८।४७।१९, अथर्व० १०।८।४४ ॥
३. सामपूर्व० ५।२।१, उत्तरार्चिक १।१।२२, यजु० ३२।२ ॥
४. ऋक्० ७।३२।२३, सामपूर्वार्चिक ३।१।१०, ऋक्० ८।५१।३, १०।१२१।१० ॥
५. यजु० ३१।११ १३।४, ऋक्० १।५९।१, अथर्व० १०।८।६, १०।७।१३०, १०।८।११ ॥
६. ऋक्० ८।६४।३, १०।८९।१०, १३२।१५, १०।१२१।३, अथर्व० ७।८७।१ ॥
७. ऋक्० १।९७।६, १०।२६।१४, यजु० ३२।८, ४०।५, ३२।११, अथर्व० ७।८७।१ ॥
८. ऋक्० ३।६२।९, १२५।१०-११, १।२५।७, अथर्व० ५।११।४, ४।१६।२ व ५-६ ॥
९. ऋक्० ८।१०१।१४ ॥
१०. अथर्व० १०।८।४४, ऋक्० ६।४९।१०, ६।५।७, ३।१९।२ ॥
११. ऋक्० ५।१४।२, ६।४।२, १०।४८।५, ४।१।१ ॥
१२. ऋक्० ३।३०।५, २।२७।१४, अथर्व० १।२१।१ ॥
१३. अथर्व० १०।८।२२-२३, ऋक्० १०।१५।६ ॥
१४. ऋक्० ८ ९५।७-८, ९।३५।६ ॥
१५. ऋक्० १०।११०।९, १०।१२५।८, १०।१९०।३, यजु० १७।१८-१९, सामपू० ६।४।३, अथर्व० १६।१।६ ॥
१६. ऋक्० १।७५।४, २।१।४, ५।८।४, १।१।१; १०।१२१।१ ॥

परन्तु मन से भी वेगवान् है। ये इन्द्रियां उसे प्राप्त नहीं कर सकती हैं परन्तु वह इन्द्रियों से भी पूर्व विद्यमान है। वह स्थिर है, परन्तु अन्य को पीछे छोड़ देता है। उसी के कारण जो वायु स्वयं हल्की है अपने से भारी वल को उठा लेती है।[1] कुछ लोग इसका अर्थ यह करते हैं कि शुद्ध रूप से परमात्मा नहीं चलता अपितु शबल रूप में चलता है। इस प्रकार परमात्मा के दोनों रूप बन सकते हैं परन्तु यह आशय उपनिषद्कार का प्रतीत नहीं होता है। अतः ब्रह्म उभयरूप मानना ठीक नहीं है। आगे कहा है कि जब पुरुष इस सम्पूर्ण विश्व को परमात्मा के आधार पर समझता है और इस ज्ञान के पाने पर वह पुरुष पूर्ण प्रकार से सुरक्षित हो जाता है फिर किसी कि निन्दा स्तुति नहीं करता है। यहां पर इस वचन में ईश्वर ज्ञान का फल कथन किया गया है।[2] इस उक्त मन्त्र का अर्थ अद्वैतवादी यह करते हैं कि जब पुरुष इस सारे संसार को अपने आप में देखता और सारे संसार के भूतों में अपने आपको देखता है तो वह निन्दा स्तुति नहीं करता है।[3] इससे आगे ईशोपनिषद् में परमात्मा का निर्बीज समाधि द्वारा जब योगी साक्षात्कार करता है तो उस अवस्था में योगी समदर्शी हो जाता है, वह शोक और मोह से रहित हो जाता है। उसे अपने पराये का भेद नहीं रहता अपनी प्राणीमात्र में एकता देखता है।[4] यहां यदि एकत्व का अर्थ

---

१. ईशोपनिषद् – ५ ॥

२. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ई० उ० ६ ॥

३. यहां प्रकरण में आत्मा शब्द का अर्थ ब्रह्म के लिए प्रयुक्त है; जबकि अद्वैतवादी यहां अपने अर्थ में ग्रहण करते हैं। जब पहले से परमात्मतत्व का वर्णन है तो आत्मा का अर्थ परमात्मा लेना उचित नहीं। आर्यमुनि ॥

४. ईशो० ७– "तत्रकोमोह कः शोक एकतत्वमनुपश्यतः" यहां

ब्रह्म और जीव का अभेद होता तो मोह और शोक पद की आवश्यकता न होती अपितु यह कहा जाता कि वह ब्रह्म हो जाता है। परन्तु जैसा कि योगदर्शन में व्याख्यान है कि योगी समाधि काल में ब्रह्म में अवस्थित हो जाता है या अपने स्वरूप को देख लेता है; आत्मतत्व का बोध होता है। अवस्था कहकर भेद ही प्रतिपादन किया गया हैं।[१] जिस परमात्मा के साक्षात्कार हो जाने पर योगी समदर्शी अवस्था को उपलब्ध कर लेता है उस ईश्वर का स्वरूप क्या है ? इसका वर्णन करते हुए कहा है कि वह ईश्वर सब स्थानों पर गया हुआ है। शरीर रहित, नस नाड़ियों रहित घावों से रहित, है, सब प्रकार से पवित्र, पापरहित, क्रान्तदर्शी ज्ञानी, सब जगह व्याप्त,स्वयं सत्ता वाला हैं। वह जैसा चाहता है वैसा भली प्रकार सृष्टि के पदार्थों को रचता है अर्थात् धारण करता है। वह निरन्तर व्यवधान रहित सभी कल्पों से चला आ रहा है। जैसी व्यवस्था चाहता है वैसा प्रबन्ध कर रहा है।[२] ईश्वर के इस स्वरूप को सभी आचार्यों ने एकमत होकर स्वीकार किया है। कुछ आधुनिक प्रत्ययवादी विद्वान् अन्य अर्थ करते हैं। वे इस मंत्र में ब्रह्मवित्त परक अर्थ करते हैं, जो समीचीन नहीं है क्योंकि मंत्र के उत्तरार्द्ध में सृष्टि रचयिता के रूप में ईश्वर को माना है। मुक्त आत्मा सृष्टि रचना कभी भी नहीं कर सकता है। यह सामर्थ्य तो केवल ईश्वर का ही है वेदान्त दर्शन का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर भी यह मानते हैं कि मुक्त पुरुष सृष्टि रचना नहीं कर सकता है।[३] अतः उक्त मंत्र में ब्रह्म के

एकत्वम् का अर्थ है—एकता—ममता—एक दृष्टि उस अवस्था में योगी जाति, सम्प्रदायों से उपर उठकर निष्पक्ष हो जाता है।

१. तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्—यो० १।३॥
२. सपर्या.........ईशो० ८।।
३. जगद् व्यापार वर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च—वेदान्त० ४।४।१७ इस पर शंकर भाष्य जगदुत्पत्त्यादि व्यापारं वर्जयित्वाअन्तदक्षिणमाद्यैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति। जगद् व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैश्वरस्य॥

स्वरूप का ही वर्णन है। इस मंत्र में ईश्वर के स्वरूप को विधेयात्मक और निषेधात्मक[1] हेतु से सिद्ध किया है। वह ईश्वर शुक्र, शुद्ध पर्य्यंगात, कवि, मनीषी, परिभू, स्वयंभू, शाश्वतीभ्यः, समाभ्यः इन विशेषणों से युक्त है, यह उसके विधेयात्मक गुण है। अकामं, अव्रणं, अस्थाविरं, अपापविद्धं, इन विशेषणों से उसका निषेधात्मक रूपेण व्याख्या की है।

आचार्य शंकर ने ईश्वर को अज्ञानोपहित चेतन्य माना है। परन्तु ईशोपनिषद् में जो ईश शब्द आया है वह ब्रह्म के अर्थ में ही आया है। किसी भी उपनिषद् में ईश्वर को मायोपहित चैतन्य नहीं माना है। ऐसी श्रुतियों का अर्थ आचार्य शंकर यह कह कर करते हैं ये श्रुतियां व्यवहार काल को बतलाती हैं परन्तु मूल उपनिषदों को यह मान्य नहीं है कि एक श्रुति व्यवहारकाल की दूसरी पारमार्थिक काल की है।

२. केनोपनिषद्—इस उपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन नाटकीय ढँग से किया है प्रारंभ में ही प्रश्न किया है वह कौन सा देव है जो सब चक्षु, श्रोत्र और वाणी आदि इन्द्रियों को शरीर के साथ युक्त करता है। मन और प्राणों को भी कौन प्रेरणा देता है।[2]

इन सबका प्रेरणा देने वाला या शरीर के संयुक्त करने वाला वह देव परमेश्वर है। जिसको जानकर अमृत हो जाते हैं।[3] जो लोग ईश्वर को साकार मानते हैं, उनका खण्डन स्पष्ट रूप में किया गया है। उस देव परमेश्वर को चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है। मन भी जानने में असमर्थ है अर्थात् उस का साक्षात्कार आत्मा ही कर सकता है। उस ब्रह्म की महिमा वर्णन

---

१. पांजिटिव – नेगेटिव ॥
२. केन-प्रथमं-केनेषितां पतति ········ ॥
३. श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो········। केन प्रथम खंड १-२ ॥
वह परमेश्वर देव श्रोत्र का श्रोत्र मन का मन अर्थात् इस सब की शक्ति उन के कारण है।

करते हुए कहा है कि ये चक्षु, श्रोत्र, वाणी और मन तथा प्राण सभी उस की शक्ति का आश्रय लेते हैं। अर्थात् जिस देव की शक्ति से आंख देखती है वाणी बोलती है, मन मनन करता है। श्रोत्र सुनते हैं और प्राण गति करता है, उसी को ब्रह्म जानो, वही उपासनीय है। जिस की साधारणतः उपासना की जाती है वह वास्तव में ब्रह्म नहीं है।[1] जो लोग यह कहते हैं कि हमने ब्रह्म को जान लिया वे अभी अल्प ही जानते हैं वह ब्रह्म शब्दों के द्वारा नहीं जाना जा सकता है।[2] इस उपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन रूपक द्वारा किया है। ये अग्नि, जल, वायु आदि देव उस महादेव की शक्ति के बिना कुछ भी नहीं कर सकते हैं। अग्नि में जलाने की वायु में उड़ाने की और जल में बहाने या गलाने की शक्ति उसी से प्राप्त होती है, इस का अभिप्राय यह है कि जड़ वस्तुओं पर नियमन वही ईश्वर करता है। तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्म अनुभूति या आत्मा के द्वारा साक्षात्कार करने का विषय है न कि केवल शब्द मात्र से जाना जा सकता है। उस को प्राप्त करने के लिये ध्यान योग द्वारा प्रज्ञा को प्राप्त कर समाधियों का अनुष्ठान करना होगा।[3] इस उपनिषद् में भी ब्रह्म की व्याख्या निषेधात्मक रूप में ही अधिक हुई है।

३. कठ–इस उपनिषद् में ब्रह्म के मुख्य नाम ओ३म् का प्रतिपादन यह व्याख्यान कर के किया है कि जिस का सब वेद वर्णन करते हैं और जिस को प्राप्त करने के लिये तप और ब्रह्मचर्यादि का पालन किया जाता है वह ओ३म् पद से कहा गया है। इसी ओंकार का उल्लेख अन्य उपनिषदों तथा वेदादि में मुख्य रूप से किया जाता है। कहते हैं उसी का अवलम्बन ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि परमाणु से भी सूक्ष्म होने के कारण परमात्मा अणु से भी अणु

---

१. केन–यत्श्रोत्रेण······तदेव ब्रह्म– केन – प्रथमखण्ड–४–५ – ६ – ७ – ८॥

२. यदि मन्यसे सुवेदइति······वही – ९॥

३. केन – द्वितीय खण्ड – तथा तृतीय खण्ड॥

अर्थात् सब से सूक्ष्म है। आकाश आदि विभु पदार्थों से भी महान् है अर्थात् उस से महान् कोई नहीं है। साधक अपनी हृदयरूपी गुहा में विराजमान उस परमात्मा की महिमा, उस की कृपा से निष्काम-कर्मी और शोक रहित होकर उस का साक्षात्कार करता है।[1] कुछ विद्वान् धातु शब्द का अर्थ मन आदि इन्द्रियों से करते हैं। परन्तु यह प्रतीत होता है क्योंकि वेद में भी धातु शब्द को धा धातु से तृच प्रत्यय करके धातृ शब्द का निर्माण होना प्रतीत होता है।[2] यदि धा धातु से तुन् प्रत्यय से धातु शब्द का निर्माण किया जाय तो भी इस का अर्थ होगा पदार्थ मात्र जिस के आश्रित हो अर्थात् सब का धारण करने वाला उस का नाम धातु कथन किया है।[3] अतः परमात्मा का नाम धातु है। इन्द्रियों से धातु का ग्रहण नहीं किया जा सकता है। कुछ अन्य विद्वान् जो ईश्वर को साकार होना मानते हैं वे महान् से महान् का अर्थ अवतार करते हैं, उन से कोई पूछे क्या अवतार सर्वव्यापक होता है या एकदेशी। इस का खण्डन अगले मन्त्र से हो हो जाता है। वह ब्रह्म अपनी सत्ता से सर्वत्र गतिमान है अतः वह एक स्थान पर ठहरा हुआ भी दूर देश में जा सकता है। और सर्वव्यापक होने से लेटे हुए के समान वह व्याप्य वस्तुओं को सब ओर से घेरे हुये है। वह आनन्दस्वरूप होने से मद और इन्द्रिय जन्य हर्ष के न होने से अमद कहलाता है।[4] ऐसा ही वर्णन ईशोपनिषद् में "तदेजति···" कह कर किया है। परन्तु अद्वैतवादी इसे जीव का वर्णन मानते हैं परन्तु उन की यह भावना उपनिषद् की भावना के विरुद्ध है, क्योंकि इस उपनिषद् में तो अनेकों ऐसे स्थल हैं जहां जीव ब्रह्म का भेद स्थापित किया है। उस ब्रह्म की व्यापकता और सूक्ष्मता का वर्णन करते हुए कहा है

---

१. अणोरणीयान्महतो महीयान्······ऋग्० २।२० ॥
२. सूर्य्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत् – ऋग्० ८।४८।२ ॥
३. धीयते सर्वमस्मिन् दधाति सर्वमेति धातु।
४. आसीनो दूरं व्रजति – कठ० २४१ ॥

कि वह शरीरधारियों में शरीर रहित है और अनित्य वस्तुओं में नित्य है तथा अवस्थित है। इस प्रकार का विभु व्यापक मानकर जो साधक उसकी सत्ता को स्वीकार करते हैं, वे शोक रहित हो जाते हैं।[१] यहाँ उपनिषद् ने औपाधिक ईश्वर का खण्डन अशरीर कहकर किया है। इससे आचार्य शंकर की इस मान्यता का खण्डन स्वतः होजाता है कि वह चैतन्य मायोपहित होकर सौपाधिक हो जाता है। उसकी महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि उस ब्रह्म की शक्ति से ही सूर्य उदय होता है, उसी की शक्ति से अस्त होता है, समस्त देव उसी में अर्पित है अर्थात् उसका अतिक्रमण कोई भी नहीं कर सकता है।[२] आगे व्याख्या है कि जो ब्रह्म इस जन्म अर्थात् इस लोक में हमारे कर्मों का नियन्ता है वह परलोक में भी नियन्ता है, जो परलोक में है वही यहां पर भी है उस प्रभु में जो नानात्व देखते हैं वे मृत्यु के ग्रास बनते हैं।[३] इस कथन के अनुसार बहु देवतावाद या नाना ईश्वर कल्पना निराधार सिद्ध हो जाती हैं। ब्रह्म की सर्वव्यापकता भौतिक अग्नि के दृष्टान्त से दी गई है। जिसप्रकार एक ही अग्नि लोक लोकान्तरो में व्याप्त होकर प्रत्येक पदार्थों में तदाकार रूप में अवस्थित है इसी प्रकार एक अन्तर्यामी परमात्मा समस्त पदार्थों में व्यापक हो रहा है वह उनके अन्दर ही नहीं अपितु बाहर भी विद्यमान है।[४] इस कथन के अनुसार बहु देवतावाद या नाना ईश्वर कल्पना निराधार सिद्ध हो जाती है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता भौतिक अग्नि के दृष्टान्त से की गयी है, जिस प्रकार एक ही अग्नि लोक लोकान्तरों में व्याप्त होकर प्रत्येक पदार्थ में तदाकार रूप में अवस्थित है इसीप्रकार एक अतन्र्यामी परमात्मा समस्त पदार्थों में व्यापक हो रहा है। वह उनके अन्दर ही अपितु बाहर

---

१. अशरीरं शरीरेषु''''''॥
२. कठ० – २।६।९ ॥
३. कठ० – ४।१० ॥
४. कठ० २।२२ ॥

भी विद्यमान है। इसी के दृष्टान्त से उसकी व्यापकता सिद्ध करते हुए माना है कि जैसे एक ही वायु समस्त लोक लोकान्तरों में प्रविष्ट हुआ तदाकार हो जाता है उसी प्रकार यह ब्रह्म भी सब भूतों का अन्तर्यामी होता हुआ उनके बाहर भी वर्तमान रहता है।[१]

अद्वैतवाद को मानने वाले केवल ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध हुआ मानते हैं परन्तु उनका खण्डन अगले मंत्र में ही उस ब्रह्म को निमित्त कारण मान कर दिया है। वह ऊर्ध्वमूल है अर्थात् कारणरूप में ऊपर है। उसका कार्यरूप में (जिसे शाखा रूप) जगत् नीचे है। यह अनित्य संसाररूप वृक्ष प्रवाह से अनादि है, ऐसा वृक्ष जिस ब्रह्म के आधार पर स्थित है वह ब्रह्म अत्यन्त ज्योति या पवित्र है, वही अमृत है, उसी में सभी देव अधिष्ठित हैं उसका उल्लँघन कोई नहीं कर सकता है।[२] हे नचिकेता यह वहीं ब्रह्म है जिसके विषय में तूने पूछा है। परन्तु यहां पर प्रत्ययवादियों का विचार है कि ऊर्ध्व मूल का अर्थ उपादान कारण है परन्तु यहां उनका यह विचार इसलिए उचित नहीं की यदि वहां पर ब्रह्म को अभिन्न-निमित्तोपादान सिद्ध करने का उद्देश्य होता तो अवाक् शाख न न होकर अवाक् मूल पद ही होता क्योंकि उपादान करण तो ऊर्ध्वमूल माना है। निमित्त कारण होने से शाखा पद के स्थान पर मूल पद ही होना चाहिये परन्तु यहाँ शाखा रूप में कार्य जगत् का वर्णन किया है। इस मन्त्र में ब्रह्म को आधार आधेय भाव से निरूपण किया गया है। आचार्य शंकर के मत में ब्रह्म ही सब कुछ होने से वह आधार आधेय निरूपण नहीं हो सकता, परन्तु यहां तो स्पष्ट रूप में उक्त निरूपण हुआ है। अश्वत्थ रूपी वृक्ष को कुछ आचार्य ब्रह्म रूप में मानते हैं परन्तु ऐसा अर्थ भी नहीं किया जा सकता हैं क्योंकि क्या ब्रह्म काल तक ही रहेगा।[३] इस

---

१. कठ० – ५।९-१० ॥

२. कठ – ७-१ ॥

३. शबल ब्रह्मवादी मानते हैं कि ब्रह्म रूपी वृक्ष शाखा रूप से

के आधार पर शबलवादी जड़ पदार्थों की शबल रूप में उपासना करने का यत्न करते हैं। अर्थात् शाखा से मूल तक जाना परन्तु यह मान्यता प्रत्यक्ष के विपरीत है। प्रत्यक्ष में सभी मूल से शाखा की ओर जाते हैं। साकार पूजा का खण्डन पीछे भी कठ ने किया है। अर्थात् जड़ वस्तुएं अमृत कभी नहीं हो सकती हैं। वह ब्रह्म ही अमृत है दूसरा कोई नहीं है।

४. प्रश्नोपनिषद्—उस उपनिषद् में ब्रह्म का निरूपण प्रश्नोत्तर रूप में किया है। ब्रह्म के विषय का विवेचन करते हुए ऋषि पिप्पलाद व्याख्यान करते हैं कि जैसे पक्षी अपने वासस्थान रूप वृक्ष को प्राप्त होते हैं इसी प्रकार यह समस्त जगत् के पदार्थ उस ब्रह्म में ही निवास करते हैं अर्थात् उस परमात्मा से सूक्ष्म कोई भी नहीं है।[1] इतना ही नहीं अपितु आगे वर्णन किया है कि जो उस प्रसिद्ध ब्रह्म को अज्ञान से रहित, शरीर से रहित, रक्तादि व्रणों से रहित, प्रकाश स्वरूप, अविनाशी, परमात्मा भली प्रकार जानता है अर्थात् परम सूक्ष्म ब्रह्म का ज्ञाता सब कुछ जान लेता है और तदरूप अर्थात् उसके गुणों को धारण करके महान् हो जाता है।[2] यहां अभिप्राय: यह है कि उस ब्रह्म को जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है, कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है। यह केनोपनिषद् में भी कहा है।[3] यहां पर अद्वैतवादी सर्वज्ञ: का अर्थ करते हैं कि वह जीव ब्रह्म होकर सर्वज्ञ हो जाता है परन्तु यह समीचीन नहीं है क्योंकि अद्वैतवादी सर्वज्ञता आदि गुण शुद्ध ब्रह्म में नहीं मानते हैं फिर सर्वज्ञ का अर्थ ब्रह्म बन जाना मानना असंगत है। यहां अभिप्राय यह है कि

शबलऔर मूल रूप से शुद्ध है। परन्तु यह मान्यता निराधार प्रतीत होती है क्योंकि जड़ पदार्थों की पूजा का खण्डन उपनिषदों में सर्वत्र व्याप्त है।

१. प्रश्नोपनिषद्—चतुर्थ—प्रश्न—७ ॥
२. वही—चतुर्थ—प्रश्न—१० ॥
३. तस्मिन्नेवविज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं, विज्ञातं भवति ॥

सर्वं जानाति इति सर्वज्ञः अर्थात् ब्रह्म को जानने पर समस्त विश्व को जानने वाला हो जाता है।[1] यहां परमात्मा को व्यापक बतलाकर उसके स्वरूप की निषेधात्मकरूप में व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस उक्त उपनिषद् में ब्रह्म की महिमा, सर्वव्यापकता और वह जड़ पदार्थों से भिन्न है, उसकी संक्षिप्त रूप में व्याख्या प्रस्तुत की है।

५. मुण्डकोपनिषद्– वह ब्रह्म अत्यन्त दिव्य, मूर्त धर्मों से रहित सर्वत्र व्यापक,प्रत्येक पदार्थ के बाहर और भीतर है। इसलिए वह उत्पत्ति से रहित है, प्राणों से रहित, मन से रहित है प्रकाश स्वरूप है। अव्याकृत प्रकृति से परम सूक्ष्म है।[2] समस्त संसार के पदार्थों में निरुक्तकार यास्क मुनि के अनुसार षड् भाव उपलब्ध है। सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं; बढ़ते हैं, परिणाम को प्राप्त होते हैं, क्षय को प्राप्त होते हैं और तदुपरान्त नाश को प्राप्त हो जाते हैं।[3] परमात्मा इन षड् भावविकारों से रहित है इसलिए उसे अमूर्त कहा है अर्थात् वह निराकार है। उस निराकार ब्रह्म से ही मन, प्राण और इन्द्रियां आदि उत्पन्न हो जाते हैं,उसी से पृथ्वी आदि उत्पन्न होते हैं यहां निमितकारण के रूप में ब्रह्म का वर्णन हुआ है।[4]

ब्रह्म का रुपक द्वारा वर्णन किया है। यदि हम उसे मूर्त रूपमें देखना चाहें तो यह अग्नि उसका मुख है। चन्द्र और सूर्य उसकी आंखें है, वायु प्राण हैं, समस्त विश्व उसका हृदय स्थान है। पृथिवी पादस्थानीय है, ऋग्वेदादि उसकी खुली हुई वाणी है। वास्तव में सब ब्रह्म सबका अन्तरात्मा हैं।[5] यह अलंकार रूप में उस विराट्

---

१. पं सत्यकाम विद्यालंकार–का भाष्य द्रष्टव्य। आर्यमुनि, ब्रह्ममुनि, भाष्य द्रष्टव्य॥
२. दिव्योह्यमूर्त मुण्डक० २–खण्ड१–२।
३. अस्तिजायतेवर्धतेविपरिणमतेअपक्षीयते विनश्यति इति षड् भावविकाराः। निरू० १–२॥
४. मुण्डको० २–३॥
५. अग्निमूर्धा – मु० २।१।४॥

ब्रह्म का स्वरूप निरूपित किया हैं। ये अग्नि आदि अवयव उसमें आरोपित हैं वस्तुतः नहीं, क्योंकि वह तो सर्वभूतान्तरात्मा है। वही समस्त सृष्टि की रचना करता है।[१]

वह ब्रह्म सर्वज्ञ और सर्ववित है, उसकी महिमा सृष्टि रचना से परिलक्षित हैं, वह परमात्मतत्व हृदयकमल रूप आकाश में वर्तमान है, ज्ञान रूप है, प्राण और शरीर का चलाने वाला है और प्रत्येक प्राणी में विद्यमान रह कर आनन्द की वृष्टि कर रहा है।[२] इस वर्णन को अद्वैतवादी जीव परक मानते हैं। परन्तु यहां तो उस ब्रह्म का प्रतिपादन है क्योंकि आगे कहा है कि वह ब्रह्म सर्वथा निष्कलंक है; वह ज्योतियों की भी ज्योति है। उसे आत्मविद् विद्वान् जानते है। यहां रुपकालंकार द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, स्पष्ट रूप में कहा है कि वहां सूर्य का प्रकाश नहीं है। चन्द्रमा नक्षत्र, विद्युत् और अग्नि उसको प्रकाशित नहीं करते हैं, वास्तव में उसी की अनन्त शाश्वत शक्ति से समस्त भूमण्डल प्रकाशित हो रहा है[३]। इसके अनन्तर उस ब्रह्म की सर्व व्यापकता का विशद् रुप में उल्लेख करते हुए कहा है कि यह अमृत रूप ब्रह्म सबसे पूर्व था, बाद में भी रहेगा। दक्षिण, उत्तर, नीचे, ऊपर सभी स्थानों पर ब्रह्म ही फैला हुआ है। ब्रह्म ही विश्व में वरिष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ है यहां पर ब्रह्म को सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से रहित बतलाया गया है। अर्थात् जगत् से पूर्व ब्रह्म ही था अर्थात् यह रूपात्मक जगत् अव्याकृत प्रकृति में लीन था। वह प्रकृति ब्रह्माश्रित होने के कारण ब्रह्म के सजातीय भेद की आपादक न थी, और स्वतंत्र न होने के कारण सजातीय भेद की आपादक न थी, इसलिए ब्रह्म को सर्वात्मत्वेन कथन किया गया है और ऊपर, नीचे, दक्षिण, उत्तर भाव से कथन किया है कि अनवच्छिन्न सत्ता से

१. २।१।५, ६, ७, ८ ॥
२. यः सर्वज्ञः–मुण्ड० २।२।७ ॥
३. मुण्डक० २।२।१० ॥

एकमात्र ब्रह्म ही समस्त दिशाओं में है। इसलिये कहा है कि वह ब्रह्म सर्वश्रेष्ठ है।[1] यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म का स्वरूप जीव से भिन्न है। इससे अधिक उपनिषद् और क्या स्पष्ट करेगी कि दीप्ति वाला ब्रह्म अणु से भी सूक्ष्म जिसमें लोक लोकान्तर निवास करते हैं और समस्त प्राणी भी अवस्थित हैं वह अक्षर ब्रह्म है। वही सब शक्तियों की शक्ति है। हे सोम्य वही जानने योग्य है।[2] इस उपनिषद् में ब्रह्म को परम ब्रह्म रूप में वर्णित किया है। अतः परम विशेषण केवल ब्रह्म के लिये प्रयुक्त हुआ है।[3] अतः ब्रह्म ही से परम सब दृष्टियों से है। जीवात्मा ब्रह्म (महान्) हो सकता है परन्तु परम ब्रह्म कदापि नहीं हो सकता हैं।

६. माण्डूक्य—माण्डूक्य उपनिषद् में ओंकार का वर्णन बहुत अधिक सूक्ष्मता और गहनता के साथ हुआ है।

ओ३म् यह जो वस्तु या ओ३म् यह जो आत्मा है, सो यह अक्षर है। अक्षर का अभिप्रायः यह है कि जिसके गुण, कर्म और स्वभाव कदाचित् भी न बदले जैसे कोई कहता है कि जो यह अग्नि प्रज्वलित पदार्थ है, यहां कहने वाले का अभिप्राय यह है कि अग्नि जो मुख से बोला वह नहीं, और अग्नि शब्द स्याही से लिखा वह भी नहीं अपितु जलता हुआ साक्षात् अग्नि पदार्थ अभिप्रेत है। इसी प्रकार ओ३म् जो तत्व है, या ओ३म् रूप जो आत्मा है सो यह अक्षर अर्थात् एक रस निर्विकार है न कि मुख से या स्याही से लिखा ओ३म् शब्द। यह समस्त जगत् उसका उपाख्यान है। भूत-कालिक, वर्तमानकालिक और भविष्यकालिक यह सब ओंकार ही

---

१. आर्यमुनि भाष्य द्रष्टव्य।

२. मुण्डक—२।२।१ ॥

३. उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन युक्ति (हेतु) प्रधान न होकर अनुभूति प्रधान है। स्वामी ब्रह्ममुनि ॥

है। इसके अतिरिक्त तीनों कालों से अतीत भी ओंकार ही है।[1] यहाँ पर यह द्रष्टव्य है कि इस जगत् को उसका उपाख्यान कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि समस्त ब्रह्माण्ड उस परमात्मा की सत्ता का एक सूचक होने से उसका उपाख्यान है। जैसे मूलमन्त्र या मूलसूत्रों पर के गूढ़ अर्थों को उनकी टीका प्रस्फुटित कर देती है। इसी प्रकार यह चराचरात्मक जगत् ईश्वर के महत्व का बोधक होने से उसका व्याख्यान रूप है। इन तीनों कालों के अन्तर्गत जो कार्य रूप जगत् वह ओंकार का रचा हुआ होने से ओंकार की महिमा का वर्णन है।[2] आचार्य शंकर माण्डूकय उपनिषद् पर भाष्य करते हुए कहते हैं कि ओ३म् यह अक्षर ही सब कुछ है यह अभिधेय (प्रतिपाद्य) रूप जितना पदार्थ समूह है, वह अपने अभिधान (प्रतिपादक) से अभिन्न होने के कारण और सम्पूर्ण अभिधान की ओंकार से अभिन्न होने के कारण यह सब कुछ ओंकार ही है पर ब्रह्म भी अभिधान अमिधेय (वाच्य वाचक) रूप उपाय के द्वरा ही जाना जाता है। इसलिए वह भी ओंकार ही है। यह जो परापर ब्रह्म रूप अक्षर ओ३म् उसका उपाख्यान ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय होने के कारण उसकी समीपता से स्पष्ट कथन का नाम उपाख्यान है।

---

१. ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति। यदिदमर्थजातभिधेय भूतं तस्याभिधानाव्यतिरेकात् अभिधानस्य चोंकाराव्यतिरेकादोंकार एवेदं सर्वम्। तस्यैतस्य परापरब्रह्मरूपस्याक्षरस्योमित्येतस्योपव्याख्यानम्। माण्डूक्य-शांकरभाष्य-पृष्ठ २५॥
माण्डूक्य—१॥ ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपख्याख्यानं मतं। भवदभष्यदितिसर्वमोकार एवं पचन्यतिकालातीत तदप्योंकार एव अग्निरिति प्रज्वलित पदार्थं॥

२. इदं सर्वंतस्योपाख्यानम् इन्द्रियगोचर सर्वक्रियात्मक और ज्ञानात्मक जगत् क्रियात्मक उस ओ३म् रूप आत्मा का बोध कराने वाला व्याख्यान है। स्वामी ब्रह्ममुनि-माण्डूक्य॥

आचार्य शंकर एक प्रकार से अभिधान अभिधेय सम्बन्ध मान रहे हैं परन्तु यथार्थवादी व्याख्याकारों का कथन है कि बोध्य-बोध सम्बन्ध से ब्रह्म का वर्णन हुआ है। ओंकार का विवेचन करते हुए कहा है कि उक्त लक्षणों वाला यह सर्वत्र गमन करने वाला आत्म ब्रह्म समस्त पदार्थों से महान् है, यह आत्मा चार प्रकार के विभूति रूप पादों वाला है।[1] सभी कालों में जितना वस्तु जगत् है यह सब उस पुरुष की महिमा है। समस्त ब्रह्माण्ड उसके एक पाद स्थानीय है और उसके तीन पाद अमृत रूप हैं। जिसप्रकार यजुर्वेद में चार पादों का कथन है। इसी प्रकार यहां इस उपनिषद् में भी चार पादों का विन्यास है। जिस आत्मतत्व के उक्त चार पाद वर्णन किये गये हैं वह निश्चित रूप से जीवात्मा नहीं है किन्तु ब्रह्म रूप आत्म तत्व है। इसी भाव से अयं आत्मा कहा गया है। परन्तु अयं आत्मा से अद्वैतवादी विद्वान् जीवात्मा ग्रहण करते हैं। जो उक्त हेतु से उचित प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि ब्रह्म के अर्थ में आत्मा शब्द अनेकों स्थलो पर आया है। परन्तु जीव और ब्रह्म में अभेद सिद्ध करने के लिये अद्वैत वादी इसी प्रक्रिया का आश्रय लेते हैं। यदि यहां अयं आत्मा ब्रह्म का अर्थ यह होता कि जीव रूप आत्मा ब्रह्म है तो 'अयमात्मा चतुष्पात्'' यह पद कभी नहीं हो सकता है क्योंकि आत्मा के भेदों या पादों का वर्णन कहीं भी नहीं हुआ है अपितु ब्रह्म के चतुष्पाद का वर्णन वेदों में आया है। जैसा कि हम अभी देख आये हैं। अतः सिद्ध हुआ कि यहां पर ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है।

परमात्मा का प्रथम पाद के रूप में व्याख्यान इस प्रकार है— जीव जाग्रत अवस्था में बाहर के पदार्थों का प्रकाशक है इस लिये उसे बहिप्रज्ञः कहा है। दो आंख, दो कान, दो नाक तथा एक मुख में उसके सप्तांग कहलाते हैं। पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, और मन बुद्धि चित अहंकार ये सब मिलकर उन्नीस मुख

---

१. एतावानस्य महिमातोज्यायांश्च'''यजु० ३१।३०।।

वाला जीवात्मा को कहा है। अर्थात् ये १६ तत्त्व मुख्य रूप में हमारे शरीर में हैं। यह जगत् स्थान रूप में तैजस रहा है क्योंकि स्वप्नावस्था में तैजसी निद्रा प्रधान होने से तैजस हैं। अन्तः प्रज्ञ रूप में कहा है। जिस अवस्था में पुरूष न किसी कामना की इच्छा करता और न कोई स्वप्न देखता है। सभी वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं वह सुषुप्ति रूप तृतीय पाद है। यह तीनों पादों का वर्णन संक्षिप्त रूप में किया है। वास्तव में ये तीनों पाद जीवात्मा की तीन अवस्थायें हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। सुषुप्ति में आनन्द-मय अवस्था का वर्णन है यदि जीव ब्रह्म का अभेद कहा जाता तो चतुष्पाद में ब्रह्म का उल्लेख न किया होता,[४] वास्तव में यह प्राज्ञः नामा जीव का वर्णन है। ये विश्व, तैजस और प्राज्ञ तीनों एक ही जीव की अवस्था भेद से संज्ञा विशेष हैं। परन्तु अद्वैतवादी जिस प्रकार अवस्था भेद से जीवन को तीन संज्ञा मानते हैं। इसीप्रकार ब्रह्म की भी वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और ईश्वर ये तीनों संज्ञा मानते हैं।[५] ये तीनों मायोपहित चैतन्य हैं। परन्तु यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार विराट् आदि तीन शरीर तथा हिरण्यगर्भादि तीन भेद मानना ठीक नहीं है। उपनिषदों में इनका कहीं भी वर्णन नहीं पाया जाता है। कि ब्रह्म से विवर्त होकर ईश्वर हिरण्यगर्भ आदि का मायोपहित चैतन्य रूप निर्माण होता है। ये उक्त सभी नाम तथा अन्य सहस्रों शब्द परमात्मा के ही वाचक हैं। इन शब्दों के प्रसंगानुसार अन्य अर्थ भी हो सकते हैं। जैसे कठोपनिषद् में एक स्थान पर वैश्वानर शब्द का प्रयोग अग्नि के लिये हुआ है।

---

१. माण्डूक्य उपनिषद् – ३ ॥
२. वही – ४ ॥
३. वही – ५ ॥
४. आचार्य शंकर और दूसरे अद्वैतवादी इन तीन पादों को अभेद-रूप, विश्वानर, हिरण्य ईश्वर रूप कहते हैं।
५. वैश्वानरः प्रविश अतिथि ब्राह्मणोगृहान् – कठ० १–७ ॥

ईश्वर वाची नाम में इसका अर्थ है कि समस्त विश्व का रचने वाला अर्थात् विश्वव्यापक।[1] परन्तु वैश्वानर आदित्य अर्थ में भी आता है।[2] आचार्य शंकर भी तीनों अर्थों में वैश्वानर शब्द का अर्थ स्वीकार करते है।[3]

अतः उक्त तीनों पादों में जीव का ही वर्णन है; परमात्मा का नहीं। वह परमात्मा जिसका चतुर्थ पाद में वर्णन किया गया है, वह सम्पूर्ण जगत् का स्वामी, सर्वज्ञ सर्वान्तिर्यामी वह सब का कारण है। क्योंकि उससे समस्त भूतादि की उत्पत्ति होती है। उक्त तीनों पादों में जिस जीव का वर्णन किया था उससे विलक्षण ब्रह्म का वर्णन इसप्रकार किया है कि वह ब्रह्म जाग्रत, स्वप्न में जीव जो बहिप्रज्ञ और अन्तः प्रज्ञ वह इससे भिन्न है अर्थात् वह तो सर्वज्ञ है। न ही अप्रज्ञ अर्थात् जड़ प्रकृति भी नहीं हैं। अदृश्य, सूक्ष्म होने के कारण अव्यवहार्य है, अर्थात् इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है। सब चिन्हों से वर्जित है। आनन्दस्वरूप और सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य, ऐसे ब्रह्म को जो मानते हैं वह परमात्मा हैं और वही जानने योग्य हैं।[4]

इस चतुर्थ पाद में ब्रह्म का वर्णन स्पष्ट रूप में जीव से भिन्न किया है। यदि ऐसा अभिप्रेत न होता तो यहां स्पष्ट कहा होता कि वह जीवात्मा अज्ञान से दूर होकर चतुर्थ पाद के रूप में ब्रह्म हो जाता अथवा वही ब्रह्म है।

७—ऐतरेय उपनिषद्—ऐतरेय उपनिषद् में ब्रह्म का आख्यान निमित्तकारण के रूप में उपलब्ध होता है। वह ब्रह्म ही सबसे पूर्व अर्थात् इस कार्य रूप जगत् से पूर्व था। ऐसा उसके तुल्य कोई भी

---

१. वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् — ब्र० सू० १।२।२४॥
२. स एषः वैश्वानरो विश्वरूपः— प्रश्न० १।७॥
३. वैश्वानरशब्दस्तु त्रयाणां साधारणः। ब्र० सू० २।२४ पर शांकर भाष्य॥
४. अपाश्चतुर्थोऽव्यवहार्य — माण्डू० १२॥

तुल्य नहीं था जो उसकी स्पर्धा करता, वह ब्रह्म निरपेक्ष रूप में वर्तमान था। उसने ही अपनी ईक्षण शक्ति द्वारा सभी लोक लोकान्तरों को उत्पन्न किया।[1] अन्य उपनिषदों की तरह ब्रह्म को अनेक नामों से ऐतरेय में कहा गया है। उस ईश्वर का नाम ब्रह्म उसी का नाम इन्द्र, प्रजापति, और प्रज्ञानेत्र आदि नाम हैं। जिससे समस्त पदार्थ सत्ता रूप में व्यक्त होकर लाभ को प्राप्त करते हैं उसका नाम नेत्र है।[2] अर्थात् ज्ञान रूप नेत्र हों जिसके उसका नाम प्रज्ञा नेत्र है।[3] प्रत्ययवादी इसका अभिप्रायः [यह लेते हैं यह जड़ चेतन जगत् शुक्ति रजत के समान प्रज्ञानरूप ब्रह्म में कल्पित होने के कारण इस संसार वर्ग को प्रज्ञान में प्रतिष्ठत कहा गया है। अर्थात् चैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही हो, आरोप रूप व्यवहार का कारण जिसका उसका नाम प्रज्ञानेत्र है।[3] और चैतन्य स्वरूप ब्रह्म में यह सब संसार प्रलय काल में स्थिति पाने के कारण इसे प्रज्ञा प्रतिष्ठा कहा गया है।[4] इस प्रकार संसार का एकमात्र कारण वे ब्रह्म को ही मानते हैं। ये अन्त में जो "प्रज्ञान" ब्रह्म कहा है इससे यह जीव ब्रह्म बन जाता है। परन्तु यह उनका कथन उचित नहीं है क्योंकि अगले मंत्र में हो जीव की उत्क्रान्ति का विवेचन करके उसको सुख रूप मुक्ति की प्राप्त करने का उल्लेख किया है। यदि उक्त अभिप्रायः होता तो,जीव के लिए मुक्ति का वर्णन न किया होता। जब प्रज्ञानेत्रो लोकः कहकर अखिल ब्रह्माण्ड के साथ बाधसमानाधिकरण्य की रीति से अभेद कथन किया गया है तो जीव भी तो उसी में आगया। दूसरी आपत्ति यह है कि जब प्रथम

---

१. आत्मा एव इदमेक एवाग्र – ऐतरेय – १।१ ॥
२. एष ब्रह्म एष इन्द्र – ऐतरेय – ५।३ ॥
३. प्रज्ञाचैतन्यमेवनेत्रं व्यवहारकारणं यस्य स प्रज्ञानेत्रः ॥
४. प्रज्ञायां चैतन्ये प्रतिष्ठिति प्रलयकाले सर्वं जगल्लीयते इति प्रज्ञाप्रतिष्ठां – अद्वैतवादीव्याख्या।
५. ब्रह्म विदाप्नोति परम् – सत्यज्ञानमनन्तब्रह्म'''ब्र० व० २ ॥

मंत्र में प्रज्ञानपद ईश्वर वाच्य है तो यहां ब्रह्म के प्रकरण में प्रज्ञान का अर्थ जीव क्यों ग्रहण किया जाय। प्रकृष्ट ज्ञान का स्रोत ब्रह्म ही है। इसलिए ब्रह्म के लिए ही प्रज्ञान पद का उल्लेख समीचीन प्रतीत होता है। अतः स्पष्ट है कि प्रज्ञान पद का विशेषण न देकर कहा जाता तो ब्रह्म का अर्थ प्रकृति, जीव और वेद भी तो हैं। इसलिए इनसे पृथक् करने के लिये' ज्ञानस्वरूप ब्रह्म कहा है।

८–तैत्तिरीय–तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म का स्वरूप सत्य, ज्ञान–अनन्त–रूप में कहा गया है। वह परमात्मा सत्य, ज्ञान और अनन्त धर्मों वाला है। इस वाक्य में ब्रह्म विशेष्य और सत्यादि उसके विशेषण हैं। यदि ब्रह्म सत्य कहा जाता तो प्रकृति में उसकी अतिव्याप्ति हो जाती क्योंकि जीव भी ज्ञानस्वरूप है इसकी व्यावृत्ति के लिये' अनन्तं ब्रह्म अनन्त है। जीव के समान परिच्छिन्न नहीं हैं। इन तीनों पदों के मिलाने से ब्रह्म का लक्षण हुआ। ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त विशेषणों वाला (गुणों) है। परन्तु अद्वैतवादी विद्वानों के मत में यह लक्षण नहीं बन सकता है कि लक्षण व्यावर्तक भी होता है क्योंकि इनके यहां ब्रह्म से भिन्न कोई पदार्थ ही नहीं फिर किसका लक्षण किया जाय। अद्वैतवादी इसका यह अर्थ भी करते हैं, कि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है परन्तु यह उनकी भ्रान्ति ही प्रतीत होती है। क्योंकि उत्तरार्द्ध में स्पष्ट कहा है कि वह "सर्वान् कामान्" सब कामनाओं का उपभोग ब्रह्म के साथ करता।' यदि ब्रह्म ही हो जाता तो फिर कामनाओं का प्रश्न ही न पैदा होता। वस्तुतः इसका अभिप्रायः यह है कि परम ब्रह्म को जानने वाला जीवात्मा भी ब्रह्म अर्थात् महान् ब्रह्म ही है।[1] आचार्य शंकर का मत इसी अध्याय में पीछे स्पष्ट कर चुके हैं।[2]

---

१. जैसा कि कहा "परं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति ।।"
२. सत्यं ज्ञानानन्तं ब्रह्म ॥

९-श्वेताश्वेतर-इस उपनिषद् में प्रश्नोत्तर रूप में ब्रह्म का निरूपण किया है। वह कारण रूप ब्रह्म क्या है? प्रकृति और जीवात्मा क्या है? यह ब्रह्म ही अपेक्षित है। वह ब्रह्म नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन है जो सांख्य और योग द्वारा जाना जाता वही सृष्टि को व्याकृत करने में कारण है। उसे ज्ञान कर ही मुक्ति मिल सकती।[1] इतना ही नहीं अपितु इससे पूर्व कहा है कि एकदेव समस्त भूतों में व्याप्त है,[2] वह सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों से विरल है। वह हमारे कर्मों का साक्षी है और निर्गुण है। वह अणु से सूक्ष्म और महान् से महान् है।[3] समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब का ज्ञाता है। वह ब्रह्म हाथ, पांव रहित होकर भी वेगवान होकर भी सुनता है। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जानता है किन्तु उसे साधारणतः कोई नहीं जानता है। वह प्रभु महान् है।[4] आगे इसी को प्रकारान्तर से कहा है कि उस ब्रह्म के सब ओर हाथ पांव हैं सब ओर आंखें, शिर, और मुख हैं, वह सर्वत्र सुनने वाला है।[5] अभिप्राय: यह है कि ऐसा स्थान नहीं जहां पर वह देखता सुनता, न हो, वेद कहा है कि अज्ञानी लोग समझते हैं कि हमें कोई भी नहीं देखता है परन्तु वरूण तृतीय उन्हें देख रहा है।[6] वास्तव में वह पुरुष ही भूत, भविष्य और वर्तमान में सबका स्वामी है। वही अमृत है। इन मंत्रों का अर्थ आचार्य शंकर ब्रह्म को निर्विशेष रूप में मान कर प्रस्तुत करते हैं। परन्तु यहां स्पष्ट रूप में कहा है कि वह ब्रह्म ज्ञानातीत

---

१. नित्योनित्यानां—श्वेता० ६।१३ ॥
२. एकोदेव सर्वभूतेषु—श्वेता० ६।११ ॥
३. श्वेता० ३।२० ॥
४. अपाणिपादो—श्वेता० ३।१९ ॥
५. श्वेता० ३।१६ ॥
६. वरुणस्तृतीय पश्यति''ऋग्वेद ॥

है। और प्रकाश स्वरूप है।[1] यह प्रकाश स्वरूप होने से सविशेष है यदि निर्विशेष रूप कहा होता तो प्रकाश और तप दोनों से रहित कहना चाहिए। इससे आगे कथन किया है कि उस ब्रह्म से उत्कृष्ट वस्तु कोई भी नहीं है और सबसे सूक्ष्म होने के कारण उससे छोटी वस्तु भी कोई नहीं है। न ही उससे कोई महत्तर है।[2] वस्तुतः अखिल ब्रह्माण्ड उस ब्रह्म से व्याप्त है। ईशोपनिषद् में भी कहा है कि जगती में जो जगत् है वह ईश्वर से व्याप्त है।[3]

इसी प्रकार आगे कहा है कि वह ब्रह्म एक होकर भी अपनी शक्ति से नानाविध संसार का प्रादुर्भाव करता है अर्थात् रचता है।[4] उस ब्रह्म के अनेक नाम हैं इसका विवेचन इस प्रकार किया है कि अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, और शुक्रादि नाम उसी ब्रह्म के हैं।[5] इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदें अनेक देवतावाद या बहु देवतावाद को नहीं मानती हैं। परमात्मा की अनन्त शक्ति है, उसी ब्रह्म के द्योतक अनेक शब्द हो सकते हैं। महर्षि दयानन्द जी का भी यही मत है।[6] ऋग्वेद और यजुर्वेद में भी इसी आशय के मंत्र अनेकों उपलब्ध होते हैं इन्हीं भावों को यजुर्वेद में कहा है।[7] ऋग्वेद् में कहा है कि इन्द्र, मित्र, वरूण, अग्नि, यम और मातरिश्वान उसी एक ब्रह्म के विभिन्न नाम हैं। विद्वान लोग उसे बहुत नामों से कहते हैं कि जबकि वह एक ही है।[8] यह सर्वव्यापी

---

१. श्वेता० ३।८ ॥
२. श्वेता० ३।९ ॥
३. ईशावास्यमिदं सर्वं – ईशा० यजु० ४०।१ ॥
४. श्वेता० ४।१ ॥
५. तदेवाग्निस्तदादित्य – श्वेता० ४।२ ॥
६. महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में १०४ नामों की व्याख्या प्रस्तुत।
७. यजुर्वेद – ३२ ॥
८. इदंमित्रवरुणं – एकं सद्विप्रा – ऋग्वेद – १।१६४।४६ ॥

देव जगत्कर्ता और सर्वथा समस्त जीवों के हृदय में स्थित है। उस परम ब्रह्म का स्वरूप प्रज्ञा बुद्धि से जानकर मनीषि लोग अमर हो जाते हैं। इस ब्रह्माण्ड में देव अपनी शक्ति से अनेक प्रकार सेउत्पन्न विकृत कर अन्त में संहार करता है। तथा यह महात्मा ईश्वर ही (कल्पान्तर के आरंभ) प्रजापतियों को पुनः उत्पन्न कर सबका आधिपत्य करता है।[1] उस ब्रह्म की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि जगत् का निमितकारणभूत जो परमात्मा प्रत्येक वस्तु के स्वभाव को स्थिर करता है। अकेला ही समस्त संसार का नियमन करता है और जो समस्त गुणों को उनके कार्यों में नियुक्त करता है वह परम ब्रह्म है।[2] ब्रह्म को यथार्थ रूप में व्याख्या प्रस्तुत की है जैसा कि कहा है कि इस गहन संसार के भीतर उस अनादि, अनन्त, विश्व के रचयिता, अनेक रूप, विश्व को एक मात्र व्याप्त करने वाले देव को जानकर समस्त पाशों से मुक्त हो जाता है।[3] इस उपनिषद् में ब्रह्म का निरूपण निमित्तकारणरूप में ही हुआ है। आचार्य शंकर का इस पर जो भाष्य उपलब्ध होता है उसे प्राय: अद्वैतवादी विद्वान् स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनका कहना है कि यह उनकी भाषा प्रतीत नहीं होती है। परन्तु उनका ऐसा कहना संभवतः इसलिए हैं कि इस उपनिषद् में पूर्ण रूपेण यथार्थवादी दर्शन का प्रतिपादन मिलता है।

१०—छान्दोग्य—इस उपनिषद् के प्रारंभ में ही ओ३म् शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि ओ३म् उसका मुख्य नाम है, जो अक्षर (अविनाशी) इसी का उद्गीथ अर्थात् वाणी का आधार मानकर उपासना करे।[4] उसकी सर्वव्यापकता के लिए कहा है कि ब्रह्म

---

१. श्वेता० ४।१७ ॥

२. श्वेता० ५।३ ॥

३. अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये – श्वेता० ५।१३ ॥

४. छान्दोग्य – १।१ ॥

ने समस्त लोक-लोकान्तरों में प्रकाशित करने के अनन्तर तीन व्याहृतियों[1] को प्रकाशित किया और व्याहृतियों के प्रकाशान्तर ब्रह्म प्रकाशित हुआ अर्थात् ब्रह्म का अर्थ ज्ञात हुआ जिस प्रकार पर्णनाल से सम्पूर्ण पत्र छिदे हुए होते हैं या जिस प्रकार रथ के पहिये आरों से लगे होते हैं इसी प्रकार ओंकार में सम्पूर्ण वाणियां प्राप्त हैं अथवा वह ओंकार ही सम्पूर्ण में व्याप्त होकर अखिल ब्रह्माण्ड को धारण कर रहा है।[2] उसकी व्यापकता के साथ सूक्ष्मता का विवेचन बड़े विशद रूप में छान्दोग्य में उपलब्ध है। जैसा कि उदाहरणों से समझाया है कि ब्रह्म, जिससे विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, और लय होता है उन पदार्थों को ब्रह्मस्थ समझें क्योंकि ब्रह्म को जगत् से तीनों कालों में भिन्न माना है। यह उनके अनुसार मुख्य समानाधिकरण है अर्थात् समस्त पदार्थ अपने २ आकार से ब्रह्म रूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं। यहां यह विवेचनीय है कि क्या इन पदार्थों को ब्रह्म माना जाय या इन पदार्थों में ब्रह्म को व्यापक माना जाय। यदि पहली बात मानी जाय तो प्रश्न होगा कि उत्पत्ति स्थिति, लय वस्तुओं का होने के कारण ब्रह्म विकृत नहीं हो जायेगा! विवर्त कहने से दोष दूर नहीं हो सकता क्योंकि जीव भी तो ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म अतिसूक्ष्म है। इसलिए ये वस्तुएं ब्रह्म नहीं हो सकतीं। क्योंकि आगे ही प्रतिपादन है कि उक्त गुणों वाला ईश्वर मेरे हृदय के मध्य में अति सूक्ष्म धानों से और यवों से और सरसों से चावलों से भी अति सूक्ष्म है। यह ब्रह्म मेरे हृदय के मध्य में पृथ्वी से अन्तरिक्ष द्यौलोक से अर्थात् लोकों से महान् है। यहां सूक्ष्म से सूक्ष्ममहान से महान रूपमें ब्रह्मका वर्णन हुआ है।[3] शाण्डिल्य ऋषि ने ब्रह्म के स्वरूप का विश्वकर्मा रूप में वर्णन किया है। सर्व कर्मों वाला, सब कामनाओं वाला, सब गन्धों वाला। सब जगत् उस ब्रह्म से व्याप्त है। वाणीरहित पक्षपात शून्य मेरे हृदय

१. भूः, भुवः, स्वः ये तीन महाव्याहृतियां कहलाती हैं।
२. छान्दोग्य – २।२३।३ ॥
३. ३।१४।३ ॥

के अन्दर है। यही वह ब्रह्म है। ऐसे गुणों वाले या स्वरूप वाले ब्रह्म को प्राप्त होऊं, यही मेरी प्रार्थना है।[1] उक्त हेतुओं से स्पष्ट है कि ब्रह्म हमारा स्वामी है, पिता है। जीवात्मा उसे पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, के सम्बन्ध से प्राप्त करना चाहता है। परमात्मा के कोशों का वर्णन भली प्रकार करते हुए प्रतिपादन किया है कि उसका कोश कैसा है। आकाश जिसका उदर समान है, पृथ्वी पाद समान है, दिशायें जिसके कोणें हैं, द्यौलोक जिसका खुला मुख है। इत्यादि ऐसा जो परमात्मा रुप कोश है कभी जीर्ण नहीं होता अर्थात् सदा एक रस रहता है। विश्व का धन उसके कोश के आश्रित हैं।[2] छान्दोग्य उपनिषद् की तरह वेदों में भी ब्रह्म का विराट् रूप में वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद् के दशम मण्डल के इक्कासी और बयासीवें सूक्त से ब्रह्म का विश्वकर्मा के रूप में वर्णन हुआ है। क्योंकि वह विश्व का बनाने वाला है।[3] छान्दोग्य में ईश्वर का वर्णन भूमा रूप में भी हुआ है। भूमा नीचे, ऊपर, पीछे, पूर्व में, वही दक्षिण, वही उत्तर में स्थित है। अर्थात् वही इस समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक हो रहा है।[4] उस उपनिषद् में ब्रह्म का नाना रूप में व्याख्यान हुआ है। उसके सत्य नामकी व्याख्या देखने योग्य है। ब्रह्म के सत्य नाम में स, त, य यह तीन अक्षर है इन अक्षरों में जो सकार है वह अमृत है। और जो तकार है, वह मर्त्य है। तथा जो यकार हैं वह उक्त दोनों को नियमन में रखता है। इसी कारण य् कहलाता है. वास्तव में जो ऐसा जानने वाला है, वह प्रतिदिन महान् सुख को प्राप्त होता है। इस उक्त स, त्, य का अभिप्राय यह हुआ कि किसका अर्थ अमृत जीवात्मा है। त का अर्थ

---

१. सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वरसः सर्वगन्धा – ३।१४।४ ॥
२. अन्तरिक्षोदर कोशो भूमिबध्नो न जीर्यते – छा० ३।१५।१ ॥
३. विश्वंकरोतीति विश्वकर्मा। जैसे कार्यं करोति – यहां कार्य का निमित्त पृथक् है। उपादान निमित्त कारण से भिन्न हैं।
४. छान्दोग्य० ६।२५।१ ॥

मर्त्यं अर्थात् प्रकृति है। य का अर्थ ब्रह्म है अर्थात् जीव और प्रकृति को जो अपने आधीन रखता है। उसका नाम सत्य है। प्रकृति में परिवर्तन होने से वह मर्त्य है। वह य रूपब्रह्म दोनों का उपयोग कर संसार का निर्माण करता है।[1] इससे आगे ब्रह्म का वर्णन सेतुरूप में हुआ है। वह ब्रह्म जो सदा अपहतपाप्मा विजर, विमृत्यु और विशोकादि विशेषण युक्त है वही संसार का सेतु है। अर्थात् जैसे हम सेतु पर बिना चढ़े नदीं को पार नहीं कर सकते।[2] इसी प्रकार ब्रह्म का आलम्बन लेना आवश्यक है। इसी सेतुरूप को कठ में, श्रेष्ठ आलम्बन नाम से कहा है। यदि यह सेतु संसार को धारण न करे तो संसार तत्काल नष्ट हो जाय अतः यह अमृतमय सेतु ही इसको रक्षा कर रहा है। मुण्डक में भी इसको अमृत का सेतु कहा है।[3] छान्दोग्य का ब्रह्म भी दूसरी उपनिषदों के समान है इसी भाव को यजुर्वेद में भी प्रदर्शित किया है।[4] वास्तव में उपनिषद् के मंत्र केवल बुद्धि का व्यायाम नहीं है अपितु समाधि द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करने पर जो अनुभूति या साक्षात्कार ऋषियों को हुआ वही उपनिषदों में प्रतिपादित है। अनुभव सदा समान ही हुआ करता है क्योंकि ब्रह्म एक ही है तो उसका साक्षात् भी समानरूप में ही होगा।

११—बृहदारण्यक—जैसा कि हम पीछे नाना रूपों में ब्रह्म के स्वरूप का अवलोकन कर आये हैं। इस उपनिषद् में परमात्मा का अश्व रूप में वर्णन किया है। अथर्ववेद में गवि सूक्त में गो रूप में परमात्मा का वर्णन हुआ है। वह अश्वरूप परमात्मा कैसा है? इस का प्रतिपादन करते हुये उपनिषद् कार ने कहा है कि उस परमात्मा के ब्राह्म मुहूर्तकाल शिरस्थानीय सूर्य, चक्षु, स्थानीय,

१. ८।३।५ ॥
२. ८।४।१ ॥
३. अमृतेषु – २।२।५ ॥
४. तमेवविदित्वा – ३।१।८ ॥

वायु प्राण स्थानीय, वैश्वानर अग्नि विस्तृत मुख के समान और संवत्सर देह स्थानीय है। इस पूज्य अश्व का प्रकाशपृष्ठ स्थानीय अन्तरिक्ष लोक उदरस्थानीय पृथ्वी पाद स्थानीय। पूर्व आदि दिशायें पासे और आग्नेयादि–बीच की दिशायें पसलियां हैं। ऋतुयें अंगस्थानीय, महीने तथा पक्ष सन्धियें, दिन और रात्रि ठहरने का स्थान और नक्षत्र अस्थि है। मेघों से परिपूरित आकाश मांसस्थानीय बालू रेत चबायें हुए अन्न के समान नदियां नाड़ि स्थानीय, पर्वत यकृत् और क्लोम पिपासा स्थान स्थानीय ओषधियों तथा वनस्पतियों लोम स्थानीय, उदय होता हुआ सूर्य उस का पूर्वार्द्ध और मध्याह्न का ढलता हुआ सूर्य उस के पीछे का भाग है। जो जंभाई लेता है वह बिजली का चमकना, जो उस के प्रकृति रूप शरीर का हिलाना है। वह बादल का कड़कना है जो उस के प्रकृति रूप शरीर से सूक्ष्म धातुओं का बहना वही वर्षा, और जो इस विराट् में जो गर्जना है वही उस के शब्द समान है।[1] वास्तव में जैसा कि इस उपनिषद् का नाम बृहत् है ऐसी ही विराट् स्वरूप की व्याख्या अश्वरूप में उपनिषद् के प्रारम्भ में ही कर दी है। ऋग्वेद् और यजुर्वेद में तथा उपनिषदों में भी इस प्रकार के परमात्मा के बृहत् स्वरूप का व्याख्यान हुआ है।[2]

जैसे विराट् अश्व का वर्णन परमात्मा के लिए हुआ है इसी प्रकार आगे इसी उपनिषद् विराट् पुरुष का विशद वर्णन इस प्रकार किया है–सृष्टि से पूर्व वह आत्मस्वरुप ब्रह्म ही था उस पुरुषाकार आत्मा ने चारों ओर देखा आलोचन किया, तो अपने से भिन्न कुछ न देखकर मैं ही सर्वात्मा हूँ। इस प्रकार कथन किया, यह पुरुष भी प्रथम अहं–अयं कहकर पश्चात् जो इसके माता-पिता कृत

---

१. अश्नुतेव्याप्नोति सर्वं जगदिति अश्वः। कालो अश्वोवहति– अथर्व० – १९।६।५ ॥ बृहदा० १।१।१ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्यशिरः—

२. यजुर्वेद का पुरुष सूक्त – ३१ ॥

अन्य नाम होता है उसे कहना है, जिस कारण इस सम्पूर्ण प्रपंच से पूर्व उस आत्मा ने सब पापों को दग्ध किया अर्थात् जो सृष्टि से पूर्व भी शुद्ध और अपापविद्ध था इसकारण भी उसको पुरुष कहते हैं जो इस प्रपंच से पूर्व पुरूष की तरह होने की इच्छा करता हुआ इससे पूर्व आत्मा की शुद्धता को जानने की इच्छा करता है वह आत्मा की शुद्धता को जानता है। वह पुरुष भी पाप दग्धकर के सुखी होता है।[1] वास्तव में यहां पर यह स्पष्ट किया गया है कि इस जगत् की रचना से पूर्व ब्रह्म ने किस प्रकार इस जगत् को रचने का ईक्षण किया है।

प्रियतम रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि वह आत्मा पुत्र, वित्त तथा अन्य सब पदार्थों से प्रियतम है जो इस आत्मा से अन्य पुत्रादिकों को प्रिय मानता उसके प्रति आत्मवेत्ता का कहना है कि यदि आत्मातिरिक्त तू पदार्थों को प्रिय समझता है तो तू निश्चय रूप में अज्ञानी है।[2] इसका अभिप्राय यह है कि संसार में अन्य वस्तुयें प्रिय तो हो सकती है परन्तु प्रियतम केवल ब्रह्म ही है।

ब्रह्म में सजातीय तथा स्वगत भेद का निषेध करते हुए उसकी दुर्विज्ञेयता को बतलाते हुए ऋषि कहते हैं कि जहां द्वैत होता है वहां दूसरे को सूंघता है, देखता है। सुनता है, कथन करता है, मनन करता है और दूसरे को मानता है। पर जहां अपना आप ही है वहां कौन किसको सूंघे, कौन किसको देखे कौन किसको सुने, कथन करे, मनन करे, जाने, जिसकी सत्ता पुरूष सबको जानता है उसको किससे जाने अर्थात् जो सब का विज्ञाता है उसको किससे जाने। इसका अभिप्राय यह हैं कि जब तक हम द्वैत रूप में अर्थात् यह मेरा है प्रिय है, और वह है, रहेगा तब तक हम उसको प्राप्त नहीं कर सकते यही द्वैत है। दूसरा वास्तव में यह मनुष्य निश्चय कर

१. बृहदा० १।४।१ ॥
२. बृहदा० १।४।८॥

लेता है कि एक मात्र ब्रह्म ही उपादेय है तब वह सब वासनाओं का परित्याग कर देता है। ऐसा करने के कारण दुःख से दुःखी और सुख से सुखी नहीं होता है। वास्तव में यह समस्त जगत् उस परमात्मा की सत्ता के आश्रित है। पीछे दुन्दुभि आदि दृष्टान्त भी इसलिए दिए हैं। लवण से भी यही बतलाया है कि जैसे लवण घुलकर जलमय होने पर भी जिधर से भी ग्रहण किया जाय वहां लवण ही लवण प्रतीत होता है, इसीप्रकार इस चराचर जगत् के पीछे अर्थात् भीतर व्यापक होने से सर्वत्र ईश्वर दृष्टिगत होता है।[1] इसी भाव को मुण्डक उपनिषद् में भी देख आये हैं। इसी भाव को दूसरे रूप में आगे कथन किया गया है कि यह पृथ्वी सब भूतों का मधु उपकारक है। यह तेजोमय प्रकाशक, अमृतमय–आनन्दमय पुरुष है। वह उसी ब्रह्म के आश्रित है। समस्त विश्व को ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म कहा गया है।[2] इसीप्रकार आप (जल) अग्नि। वायु, आदित्य, दिशायें, चन्द्र, विद्युत, आकाश, धर्म और सत्यादि दृटान्तों से समस्त विश्व को उसके आश्रित बतलाकर उस आत्मतत्व को ब्रह्म कहा है। क्योंकि संसार के पदार्थ उसके आश्रय में रहते हैं इसलिए ही महान् है परन्तु इनकी महत्ता ब्रह्म के कारण है। जैसा कि अन्य उपनिषदों में भी हम देख आये हैं। संसार में समस्त वस्तुयें मिलकर उन ब्रह्म का पराभव नहीं कर सकती हैं। क्योंकि वह सभी रूपों में पूर्ण है वह सर्वत्र आकाश के समान होने के कारण पूर्ण है, उसी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ कार्य कारण रूप संघात्मक जगत् भी पूर्ण कहाता है। उसीपूर्ण परमात्मा के पूर्ण भाव को लेकर ही जगत् अव्याकृत से शेष रह जाता है। कौरव्यायणी के पुत्रका मत है कि जो परमात्मा निरतिशय कल्याण गुणाकार होने से ब्रह्म तथा आकाश की तरह सर्वगत होने से उसी को ब्रह्मवेत्ता लोक ओ३म् पद वाच्य कहते हैं।

---

१. बृहदा० २।४।१४॥
२. इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां ··· स योऽयमात्मा इदममृतामिदं ब्रह्मेदं सर्वम्॥ बृहदा० २।५।१॥

समाधि अवस्था में जप करते हैं क्योंकि मनुष्य एक मात्र उसी ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा प्रसंख्यान की पराकाष्ठा को प्राप्त होकर सब प्रकार के क्लेशों से रहित हो जाता है।[१] वास्तव में ब्रह्म सब कार्य कारणात्मक संघात का कर्त्ता धर्त्ता होने के कारण पूर्ण है। अथर्व वेद में भी यही कहा है कि उस सत्यरूप ब्रह्म के द्वारा ही भूमि, सूर्य द्यौ आदि धारण किये हुए हैं।[२]

उक्त उपनिषदों में बहुदेवता वाद या बहु ईश्वरवाद के विचार का पूर्णत अभाव है। क्रमशः संक्षिप्त रूप में सभी उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म का स्वरूप का प्रतिपादन करने का अभिप्राय यह है कि उपनिषदों की मूल भावना और पूर्वापर संगति लगा कर अर्थ का वास्तविक भाव दूसरा ही है। ब्रह्मविषयक दयानन्द मत का निष्कर्ष—

१. बहुदेवतावाद या बहु ईश्वरवाद की गंध भी उपनिषदों में उपलब्ध नहीं होती है।
२. ईश्वर अमूर्त है इसलिए उसका अवतार कभी भी नहीं हो सकता है।
३. ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों हैं। दयानन्द ने जो ईश्वर का लक्षण किया है कि वह ब्रह्म सच्चिदानन्द आदि लक्षणों से युक्त है उपनिषदों की मान्यता के अनुसार ही है।[३] ऋषि दया-

---

१. बृहदा० ५।१।१ ॥
२. सत्येनोत्तभिनाभूमि ··· दिविसोमो ··· अथर्व० १४।१।१।१ ॥
३. ईश्वरकि जिसके कि ब्रह्म परमात्मा आदि नाम हैं। जो सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त है, जिस के गुण कर्म स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान, दयालु, न्यायकारी; सब सृष्टिकर्त्ता धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों के कर्मानुसार सत्य न्याय के फलदाता आदि लक्षण युक्त है। उसी को परमेश्वर मानता हूं। (स० प्र० स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश) पृष्ठ ७३५ – लक्षण ॥

नन्द ने ईश्वर के जितने लक्षण लिखे हैं वे लगभग सभी उपनिषदों में प्राप्त हो जाते हैं।

४. कुछ उपनिषद् मन्त्रों में इस प्रकार के मन्त्र उपरी दृष्टि से जान पड़ते हैं कि उन की व्याख्या प्रत्ययवादी (अद्वैतवादी) की जाय तो समीचीन प्रतीत होती है। परन्तु पूर्वापर और प्रसंगानुसार सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर यथार्थवादी व्याख्या ही समीचीन है।

५. उपनिषदों का ब्रह्म तर्क प्रधान कम है अनुभूतिपरक अधिक है। यह स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ता है कि युक्ति हेतु और तर्क का विकास दर्शनकाल में अधिक हुआ प्रतीत होता है। परन्तु पूर्णतः तर्क का अभाव नहीं है।

६. उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म सृष्टि की रचना करता है।[1] विवर्त होकर नहीं अपितु प्रकृति में परिणाम कर के निमित्त कारण रूप में सृष्टि का रचयिता है।

७. तप तथा उपासना के द्वारा जो ऋषि ईश्वर के समीप तक पहुँच जाते हैं। उन सब की प्रायः अनुभूति समान रूप में होती है। हां, उस अनुभूति की व्याख्याओं में भेद अवश्य दृष्टिगोचर होता है।

८. उपनिषदों का ब्रह्म विभु है।

ऋषि दयान्द के लिये ईश्वर और ब्रह्म एक ही सत्ता के दो पर्यायवाची शब्द हैं ब्रह्म शब्द बृहि बृद्धो इन धातुओं से बनता है। इसका अभिप्राय है कि जो महान् सर्वव्यापक अनन्त व सर्वशक्तिमान है। परमसत्ता के लिये ब्रह्म शब्द का प्रयोग उपनिषदों के साथ वेदों में भी हुआ है। वहां पर भी सबसे महान् होने से इसको ब्रह्म कहा है। वेद व उपनिषदों में ईश्वर का मुख्य नाम ओ३म् कहा गया हैं।[2] दयानन्द ओ३म् की व्याख्या

---

१. यतो इमानि भूतानि जायन्ते – तै० उ० भृगुव० अनु० १ ॥
२. ओ३म् खं ब्रह्म – यजु० ४०-१ ॥

इस प्रकार करते हैं कि यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम हैं क्योंकि उसमें जो अ, उ और म तीन अक्षर मिलकर एक ओ३म् समुदाय हुआ है। इस नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं। जैसे अकार से विराट् अग्नि और विश्वादि। उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तेजसादि। मकार से ईश्वर आदित्य और प्रज्ञादि नामों का वाचक ग्राहक है।[1] सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में दयानन्द ईश्वर के लगभग सौ नामों की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। परमात्मा का नाम अग्नि भी है क्योंकि वह सर्वप्रकाशक है।

दयानन्द ने अनादि मानते हुए कहा है कि जिसका कोई आदिकारण नहीं समय न हो वह अनादि है। ये उन सिद्धान्तों की जिनमें ईश्वर, स्वर्ग या आकाश विशेष में स्थित कहा है उनको बच्चों की कल्पना कहकर मजाक उड़ाते हैं।

ईश्वर को दयानन्द सर्व शक्तिमान मानते हैं जैसा कि उपनिषदों के मंत्रों से स्पष्ट है परन्तु सर्वशक्तिमान की (नवीन) व्याख्या प्रस्तुत करते हुए इनका कहना है कि सर्वशक्तिमान का अर्थ यह नही है कि वह ईश्वर असंभव को भी करे। ईश्वर दूसरा ईश्वर कभी नही बना सकता है। क्या वह अन्यायकारी कुकर्मी को कर सकता है? कभी नहीं। स्वाभाविक नियमों के विपरीत ईश्वर भी नहीं चल सकता है।[2] आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ईश्वर के नियम सत्य और पूर्ण हैं इसलिए वह उनमें परिवर्तन नहीं कर सकना है।[3] सन्त थामस के अनुसार परमात्मा में शुभ गुण हैं और सब बुरे गुण यथा क्रोध, विस्मृति, घृणा, और शोक इनका उसमें अभाव है।[4] सन्त थामस के शब्द

१. सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ – १ ॥
२. स० प्र० – ७ समु० – पृष्ठ २१८ ॥
३. स० प्र० – समु० ७ – पृष्ठ २१५ ॥
४. Ibid., p. 480.

देखिए–ईश्वर भूतकाल को नष्ट नहीं कर सकता, स्वयं पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता दूसरा ईश्वर नहीं बना सकता है।[1] यहाँ सन्त थामस और दयानन्द में समानता है। उपनिषदों के अनुसार भी यही सिद्धान्त समीचीन है.। क्योंकि जो लोग सर्वशक्तिमान का अर्थ यह करते हैं कि वह सब कुछ कर सकता है चाहे जिसको मोक्ष दे दे, चाहे जो बना दे, इतना ही नहीं इसी आधार पर ये लोग मानते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है इसलिए वह अवतार भी ले सकता है परन्तु उनकी यह धारणा उपनिषदों की भावना से विपरीत है। और दयानन्द की धारणा उपनिषदों के अनुकूल है। इसी का समर्थन प्लेटो भी करता है। परमात्मा असत्य नहीं बोल सकता तथा ऐसा कोई काम नहीं कर सकता जो उसके शुभ गुणों के विरुद्ध हो।[2]

उपनिषदों को तरह दयानन्द ईश्वर को निराकार मानते हैं निराकार का अर्थ जिसका कोई आकार नही अर्थात् सर्वत्र व्यापक। आचार्य शंकर भी ब्रह्म को निराकार मानते हैं परन्तु साथ में जीव प्रतिबिम्बवाद का भी समर्थन करते हैं परन्तु दयानन्द का कहना है कि प्रतिबिम्ब साकार पदार्थों का होता है। ब्रह्म का प्रतिबिम्ब कभी भी संभव नहीं। उपनिषदें भी जैसा कि हम देख आये हैं ब्रह्म को अमूर्त मानकर निराकार को मान्यता प्रदान करती हैं।

समालोचना—

आचार्य शंकर ने संसार की रचना, जीव और कर्मफल आदि

---

१. He can not undo the past commit sin, make another God or make him nimself not exist. History of western Philosophy – B. Russel – p. 480.

२. Well we cannot you imagine that God will be willing to to be, whether in words or deeds, or to put forth a phantom of himself ? I cannot say" republic in five Great Dialogues – p. 285–Plato. Translated by B. Jowett, Published by Walter. J. Block:

की जटिल समस्याओं के कारण पारमार्थिक और व्यावहारिक इन दो स्तरों को माना है। क्योंकि बिना व्यवहार को माने प्रत्यक्ष द्वारा जो ज्ञान उपलब्ध है उसका शुद्ध सन्तोषजनक समाधान नहीं किया जा सकता है। परन्तु पारमार्थिक रूप में वास्तव में ब्रह्म को छोड़कर कुछ भी नहीं है, जिसकी समीक्षा हम इस अध्याय में देख आये हैं परन्तु गौड़पाद माण्डूक्य कारिकाओं में संसार की निस्सारता बतलाते हुए कहते हैं न संसार की उत्पत्ति, न निरोध, न कोई बद्ध है और न कोई साधक और न कोई मुक्तात्मा ही है।[1] परन्तु इनकी यह मान्यता वेद और उपनिषद् के प्रतिकूल है क्योंकि उपनिषदों में तो संसार की उत्पात्ती आदि का स्पष्ट वर्णन है। संसार शश विषाण की तरह न हो जाय, इसलिए आचार्य शंकर को व्यवहार का स्तर मानना पड़ा। ब्रह्म के भी दो स्तर इन्होंने माने हैं। परन्तु दयानन्द की तरह जयतीर्थ स्पष्ट कहता है कि ब्रह्म के दो रूप अप्रामाणिक होने से असिद्ध है।[2] ब्रह्म द्वयवाद वैदिक साहित्य (उपनिषद् दर्शन) में कहीं उपलब्ध नहींहै। उपनिषद् स्पष्ट कहती हैं कि ब्रह्म एक ही है, दो या दो से अधिक कुछ नहीं है। अर्थात् ब्रह्म दो नहीं हैं।[3] मैक्समूलर कहते हैं कि उपनिषद् साहित्य में दो ब्रह्म का सिद्धान्त कही भी नहीं मिलता है।[4]

दयानन्द के मत में और उपनिषदों के अनुसार, न ब्रह्म की कल्पना है उपनिषदों का ब्रह्म सर्वशक्तिमान, नियामक, निर्माता, निराकार, सच्चिदान्द और कर्मफल प्रदाता है। शंकर का ईश्वर और दयानन्द का ब्रह्म प्रायः समान हैं। (गुणों की दृष्टि से) परन्तु दयानन्द का ईश्वर मायोपहित चैतन्य नहीं है।

१. गौडपादीय माण्डूक्य कारिका – २।३२ पर शांकर भाष्य।
२. जयतीर्थ की न्याय सुधा – पृष्ठ १२४ ॥
३. एवमेवाद्वितीयम् – छान्दोग्य – ६।२।१ – न द्वितीयो न तृतीय न चतुर्थं – यजु० दयानन्दभाष्य।
४. The Vedanta Philosophy – p. 72 – Max Muller – 2nd. Rs. pt. Calcutta – 1955.

आचार्य रामानुज और महर्षि दयानन्द–दोनों दार्शनिक दर्शन की आस्तिकवादी विचार धारा के प्रतिनिधि हैं। उनका यह आस्तिक्यभाव वेदों के प्रामाण्यमात्र पर ही अवलम्बित नहीं है, प्रत्युत दोनों दार्शनिक ईश्वर की सत्ता को युक्तियों द्वारा स्वीकार करते हैं।

दोनों दार्शनिक ईश्वर विषयक इस विषय पर सहमत हैं कि वह अनादि, सत्य, ज्ञान और अनन्त हैं। दोनों के अनुसार परमात्मा के आदि स्रोत की कल्पना नहीं की जा सकती। उसकी सत्ता त्रिकाल सिद्ध एवं त्रिकाल बाधित उसकी सत्ता में न कभी ह्रास आता है और न कभी किसी प्रकार क्षय होता है वह ज्ञानकल्प है। शंकर के ब्रह्म की भांति वह एकान्ततः गुणविहीन नहीं है, प्रत्युत उसमें अन्य अनेक सद्गुणों की भी समुपस्थिति है। वह ज्ञान का आदि स्रोत है। उसका ज्ञान सार्वभौमिक और सर्वत्र व्याप्त है। वह अपने इस ज्ञान के कारण ही कदाचित् सर्वज्ञ है। परमात्मा देशगत, कालगत और वस्तुगत त्रिविध परिच्छिन्नताओं से रहित है। अतः वह अनन्त है। उसकी यह अनन्तता उसकी सर्वशक्तिमता की भी द्योतक प्रतीत होती है।

रामानुज और दयानन्द–दोनों ही दार्शनिक परमात्मा को नित्य विशुद्ध, और सर्वज्ञ, सर्वव्यापक मानते हैं। त्रिकालसिद्धि उसकी सत्ता उसकी नित्यता है। किसी भी प्रकार के दुर्विकार से उसके विशुद्धत्व का द्योतक है। और उसमें किसी भी प्रकार के रहित विखण्डन का अभाव उसकी अखण्डेकरसता का परिचायक है वह सर्वत्र है, निखिल ब्रह्माण्ड और जीवात्मा उसके द्वारा व्याप्त है। इसलिए वह सर्वत्र व्याप्त है।

दोनों दार्शनिक परमात्मा को सच्चिदानन्द मानते हैं। सत् से अभिप्राय जहां एक ओर उसकी सत्ता से है, वहीं दूसरी ओर उसके जगत्कारणत्व के रूप में भी है। वह चित्त होने से चेतन है और चेतन होने से वह ज्ञानाधार है। वह आनन्दमय है। दोनों दार्शनिक इस बात पर सहमत है कि परमात्मा का ध्यानमात्र भी जीवात्मा में

आनन्द का उत्सर्जक है। मुक्त्यावस्था में भी जीवात्मा उसको प्राप्त करके अखण्डेकरस आनन्द की उपलब्धि पाता है। इसके अतिरिक्त उसका आनन्दत्व उसके उन गुणों से भी है जो जीवात्मा और जगत् के प्रति कल्याणकारी गुण है। दोनों के अनुसार वह परमात्मा दयालु हैं। सौशील्य, सौलभ्य प्रभृति उसके कल्याणकत्व को तो पुष्ट करते ही हैं, प्रत्युत जीवात्मा के प्रति कल्याण के साधक या अभिभावक भी है।

रामानुज के अनुसार परमात्मा का दयालुत्व जोवात्मा की भक्ति या कर्मों से प्रसन्न होकर उसको अपनी कृपा के द्वारा स्व-सान्निध्य देना है, तो दयानन्द के अनुसार, जैसा कि रामानुज का मत है, परमात्मा का दयाभाव जीवात्मा के दुखों का प्रतिकार रूप में प्रकट होता है, जो दुष्टात्माओं को दण्ड देकर सदात्माओं को सुख देने के लिए होता है। रामानुज का ईश्वर तो जीवात्मा के दुखों के दर्शनार्थ अधर्म के विनाशार्थ और सद्धर्म की व्यवस्था के लिए अपने विभिन्न गुणों के माध्यम से स्वरूपावतार की व्यवस्था के लिए या आवेशावतार ग्रहण करता है। दयानन्द परमात्मा—कृत जगत्—सृष्टि को और उसके द्वारा सुखकारी उपादानों की उपलब्धि को जीवात्मा पर परमात्मा की दया ही मानते हैं।

रामानुज ने परमात्मा को जीव के कर्मों के फलों का प्रदाता माना है दयानन्द भी उनके इस विचार से सर्वथा सहमत हैं, परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान आदि गुणों से जीवात्मा के कर्म-फलों का नियमन करता है और जीवात्मा तत्तत्कर्मानुरूप फल देता है। इस कर्मफल नियम में परमात्मा किसी के साथ पक्षपात व्यवहृत नहीं करता, इसी हेतु उसे न्यायकारी भी माना गया है।

रामानुज ने एक लम्बी परम्परा के और अद्वैतवादी के विरूद्ध परस्पर विरोधाभासी सगुणत्व और निर्गुणत्व धर्मों को परमात्मा में माना है। जिसकी युक्ति उन्होंने अत्युत्तम रूप से दी है। परमात्मा असंख्य कल्याणकारी गुणों के कारण सगुण कहा या माना जाता

है। और असतबद्ध दुर्गुणों के राहित्य के कारण निर्गुण भी प्रतिपादित किया गया है। दयानन्द उनके उक्त विचारों से पूर्ण तथा सहमत हैं। दयानन्द और रामानुज के अनुसार निर्गुण से यह तात्पर्य कदापि नही है कि उसमें गुणों का सर्वथा अभाव हो, क्योंकि परमात्मा के सर्वज्ञत्वादि गुण उसके सगुणत्व के प्रतिपादक हैं। अतः ऐसी कल्पना या अवधारणा किस प्रकार की जा सकती है कि परमात्मा में उचित गुणों का साँकर्य या उत्क्षेपण नहीं होता, इसलिए उसे निर्गुण कहा जाता है। जीवात्मा और जगत् के, जो उससे एक निकट सम्बन्ध रखते हैं, के क्रमशः अल्पज्ञत्व, संसरणत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व और जड़त्व एवं भोगत्व पराश्रयत्व आदि दुर्गुण उसमें नही होते और न जीवात्मा और जगत् के साहचर्य से उसमें संक्रमित होते हैं। वह सर्वथा विशुद्ध और अखण्डेकरस, निर्विकार और निबद्ध है, अतः इस रूप में वह निर्विकार है। इसप्रकार सगुण और निर्गुणत्वादि की धारणा परस्पर विरोधी न होकर सहास्तित्व सापेक्षा है, इस निष्कलंक ब्रह्म के स्वरूप की मान्यता में आचार्य शंकर भी सहमत हैं।

रामानुज भक्ति के क्षेत्र में अवतारवाद की धारणा के साथ ब्रह्म को सगुण स्वीकार करते हैं किन्तु दयानन्द रामानुज के इस विचार के साथ सहमत नहीं है। दयानन्द के मतानुसार न तो परमात्मा उस रूप में सगुण है जिन रूपों से रामानुज का परमात्मा वह भक्त के आह्वान के पाषणादि में अवतरण करता है। दयानन्द के मतानुसार परमात्मा की मूर्ति या साँसारिक अवतारण सर्वथा वेदविरुद्ध है। जैसा कि हम दयानन्द द्वारा रामानुजीय मत के खण्डन में बता चुके है।

रामामानुज परमात्मा को सृष्टिकर्त्ता मानते हैं। दयानन्द भी उनके उस विचार से सहमत हैं किन्तु रामानुज के उस विचार से दयानन्द सहमत नहीं हैं जिसमें परमात्मा में ही सृष्टि का सम्पूर्ण कारणत्व अर्थात् अभिन्ननिमित्तोपादाकारणत्व प्रस्थापित कर देते हैं

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रामानुज जगत् को परमात्मा का शरीर या विशेषण मानते हैं। जिसप्रकार विशेषण और विशेष्य अपृथक् सिद्धभाव से एक में ही रहते है उसी प्रकार जगत् और परमात्मा अन्योन्याश्रित रहते हैं, तस्माद् यदि वह अपृथक्भूत शरीर और विशेषण उपादान कारण है तो वस्तुतः वह उसका शरीरी या विशेष्य ही उपादान कारण है, परमात्मा इसी रूप में जगत् का उपादान है। जगत् अपनी प्रकृति के रूपनामात्मकावस्था से विहीन अपनी कारणावस्था में उस परमात्मा में ही अपृथक्रूप से रहता है। इसप्रकार यह जगत् उस परमात्मा का ही परिणाम है। किन्तु यहां यह बता देना पुनः आवश्यक होगा कि जिस प्रकार शरीर के शैशव, यौवन एवं वार्धक्यादि अवस्थाएं शरीरी के विकार न होकर शरीर के विकार हैं, उसीप्रकार यह प्रपञ्चात्मक जगत् परमात्मा का विकार न होकर प्रत्युत तत्शरीरभूत कारणावस्था प्रकृति का ही विकार है। इसप्रकार परमात्मा सृष्टि का उपादान कारण है। रामानुज के मत में परमात्मा अपने सृष्टिकारी संकल्पों के कारण उस सृष्टि का निमित्त कारण है। उसके "एको बहुस्याम्', आदि संकल्प के ही उसशरीरभूत प्रकृति का परिणाम अवस्था में परिणत करते हैं। रामानुज ने परमात्मा के ज्ञान, शक्ति, बलादि को सृष्टि का सहकारी कारण माना है।

दयानन्द, रामानुज के उक्त मल से सहमत नहीं है। उनकी प्रकृति अपने शोल को किसी अन्यको समर्पित करके निर्व्यक्तितत्वा नहीं है। उसकी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता मानी गई है, जो किन्हीं भी अर्थों में अपनी उपादानता के लिए पराश्रित नहीं है। उसका अपना स्वतन्त्र स्वाधीन है, तस्माद् परमात्मा सृष्टि प्रक्रिया में उस उपादानभूत प्रकृति से रचना कार्य करता है। दयानन्द परमात्मा को सहकारी कारण भी स्वीकार नहीं करते। सहकारी कारण जीवों और उस के कर्मों को मानते हैं। परमात्मा को केवल उन्होंने निमित्त कारण माना है।

दयानन्द का दृष्टिकोण रामानुज के दृष्टिकोण से यहां

अधिक उचित एवं यथार्थवादी है। रामानुज का यथार्थवाद–कि प्रकृति स्वयं ही उपादान कारण है–परमात्मा का अतिशययता-महनीयता पूर्वाग्रह से सन्त्रस्त–सा दिखायी पड़ता है। संभवतः रामानुज अद्वैतवाद के प्रति व्यमोह को त्यागने में असमर्थ रहे हैं। क्योंकि प्रकृति की सत्तामात्र उसका विशेषण या अपृथक् सिद्ध होने से ही नहीं बनती, जबकि महर्षि दयानन्द इस जगत् के याथार्थ्य को और भी अधिक महिमा मण्डित कर देते हैं, जब वे उसके साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध स्वीकार करते हैं अस्तु दोनों दार्शनिक परमात्मा के सृष्टि-कर्तृत्व के उस के हेतु पर एकमत है, जिसमें उसके कर्तृत्व को निरंकुशता या स्वच्छन्द न मानकर प्रत्युत जीवात्माओं के कर्म विभावों से प्रेरित माना गया है।

रामानुज परमात्मा के सृष्टि-कर्तृत्व में उसका स्वार्थ, उसका लीलामात्र व्यसनत्व मानते हैं। दयानन्द परमात्मा के कल्याण-कारणत्व को आरोपित करते हैं। अर्थात् परमात्मा की करूणा यह है कि वह अपने दयालुत्वादि स्वभाव के कारण जीवात्माओं के कल्याण के लिए सृष्टि रूप कार्य में व्यापृत होता है। किन्तु प्रतीत यह होता है कि रामानुज का "लीलामात्र केवल्यात्" परमात्मा के कल्याण गुणगणाकरत्व होने से कल्याणार्थ ही है।

अतः दोनों दार्शनिक परमात्मा के सृष्टि–विषयक,करूणा प्रयोजन पर भी एक मत प्रतीत होते हैं। यहां यह पुनः स्पष्ट करना आवश्यक है कि परमात्मा का यह करूणा प्रयोजन उस प्रयोजन का अग्रगामी न होकर अनुगामी है। जिसमें वह जीवात्माओं को उनके कर्मफलों को भोगने के लिए सृष्टि-कर्तृत्व को वहन करता है।

अद्वैतवादी दर्शन में तीन भेद माने गये हैं-विजातीय सजातीय और स्वगत। विजातीय भेद वह है, जो भिन्न–२ पदार्थों में पाया जाता है। यथा–मनुष्य और पशु। सजातीय भेद वह है, जा एक ही प्रकार के पदार्थ में रूपाकारगत होता है। यथा मानव–मानव में। स्वगत भेद किसी पदार्थ के स्वगत आवयविक भेद को कहते हैं। यथा मानव के हस्तपादादि।

रामानुज परमात्मा के प्रथम दोनों प्रकार के विजातीय और सजातीय भेदों को अस्वीकार करते हैं। समस्त पदार्थ उसी परमात्मा के रूप में हैं, प्रकार हैं, विशेषण हैं, अत ? वे किसी भी प्रकार से विजातीय नहीं है और वे सजातीय भेद रूप हेतु नहीं है क्योंकि इसप्रकार या विशेषणभूत अभिन्न भेदों के (अचिद् और चिद् में) कोई भी सदृश नहीं है। परमात्मा सर्वज्ञत्वादि गुणों से विशिष्ट हैं तो जीवात्मा अल्पज्ञत्वादि गुणों के कारण और अधिक जड़त्वाधि गुणों के कारण उस से हीन है। इस प्रकार तद्भिन्न न होने के कारण विजातीय भेद और तत्सदृश न होने के कारण वे किसी भी अन्य पदार्थ को परमात्मा का सजातीय स्वीकार नहीं करते। इसलिए वे चिद् और अचिद् को परमात्मा के स्वगत भेद मानते हैं।

दयानन्द परमात्मा के किसी सजातीय या स्वगत भेद की कल्पना नहीं करते। अखण्डैकरस, विशुद्ध एवं सर्वज्ञत्वादि धर्मी परमात्मा के कोई समान नहीं है, अतः उसका कोई सजातीय नहीं है और कोई अभिन्न नहीं है, तस्माद् कोई स्वगत भेद भी नहीं है।

दयानन्द के अनुसार जीवात्मा और जगत् अपनी २ स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। वे परमात्मा से गुणों में न्यून हैं और स्वयं जीवात्मा और जगत् भी परस्पर अभिन्न नहीं है। एक ज्ञान और चेतन है, दूसरा जड़। अतः वे भी परस्पर विजातीय रूप ही हैं। इस प्रकार दयानन्द एक मात्र विजातीय भेद को स्वीकार करते हैं।

रामानुज की दार्शनिक विचारधारा एक धर्म और दर्शन का समन्वय प्रस्तुत करती है। भक्तिधारा से आप्लावित उनका मानस परमात्मा की कृपा का पदे-२ क्षुधार्त प्रतीत होता है। यही कारण प्रतीत होता है कि जिसमें वह किसी प्रकार का जीव और जगत् के कल्याण के लिए उसके साथ जुड़ा हुआ है। कहीं जीवात्मा को कर्तृत्व की प्रेरणा हेतु, कहीं उसकी भक्ति की आप्लावित धारा को ग्रहण करने हेतु तो कहीं नियमन हेतु। वस्तुतः प्रतीत होता है कि यह सभी प्रकार परमात्मा के तत्तद् गुणों की भिन्न-२ अभिव्यक्तियां हैं। जो उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में ही समाविष्ट है। कहीं वह अपने

किन्हीं दो गुणों से आविष्ट हो रहा है तो कहीं अपने किन्हीं अन्य दो गुणों से और वहीं अपने उस अनन्त स्वरूप के सम्पूर्ण गुणदायक स्वरूप से जिससे वह अन्यत्र (वैकुण्ठ) में भी विद्यमान है। जो सब कुल मिलाकर रामानुज के भक्ति संपूरित मानस का कौतुक प्रतीत होता है या उस वासना का – जिसकी वह आराध्य को मानस से महत्तर प्रतिपादित करने की क्षुधा से व्याकुलित है।

दयानन्द रामानुज के उक्त भेदों से सर्वथा असहमत हैं। वे अखण्डेकरस परमात्मा के विभिन्न गुणों की भिन्न–२ स्थलों पर संस्थापना करके या अवतारणा करके उसके स्वरूप के पूर्णत्व को खण्डित रूप में प्रतिपादित नहीं करना चाहते हैं।

रामानुज ने परमात्मा की सिद्धि में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों का खण्डन किया है। वे परमात्मा को एकमात्र शास्त्रैकगम्य मानते हैं किन्तु महर्षि दयानन्द अपने प्रगतिशील दृष्टिकोण के रामानुज से आगेबढ़ गये प्रतीत होते हैं। यही कारण हैं कि दर्शन जगत् को एक अपूर्व उपलब्धि देते हुए परमात्मा की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण की संस्थापना करते हैं।

दोनों दार्शनिक इस बात पर भी एक मत हैं कि विश्व का समस्त ब्रह्माण्ड एक ही परमेश्वर हैं जो सृष्टि, पालक एवं प्रत्याहारक है। अन्य सभी पदार्थ, वे चाहे अलौकिक शक्तियां हो या जागतिक अतुल्यसामर्थ्य प्राप्त मुक्तात्माएं। उसके समक्ष सभी अकिंचन हैं। वही एक परमसत्ता हैं जो इस जगत् का नियमन करती है, जो सर्वत्र व्याप्त है। इस प्रकार दोनों दार्शनिक एकेश्वरवादी हैं।

आचार्य रामानुज ने अद्वैतवाद के ब्रह्मवाद का प्रबल रूप से खण्डन किया है। खण्डन में महत्वपूर्ण पक्षों में उन्होंने अद्वैतवादाभिमत ब्रह्म के ज्ञानमात्रस्वरूपत्व, निर्गुणत्व अविद्याश्रयत्व एवं जगत् के सन्दर्भ में तद् विवर्तवाद का खण्डन किया है।

महर्षि दयानन्द ने ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में सभी पक्षों पर विचार किया है। जहां आचार्य रामानुज स्वाभिमतय सिद्धान्त होने के कारण ब्रह्म के जगत्-उपादानत्व का खण्डन नहीं

कर पाये है, महर्षि दयानन्द ने वहां यथार्थवादी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर शंकराचार्य स्वीकृत ब्रह्म के जगदुपादान विषयक सिद्धान्त का भी प्रबल तर्कों के आधार पर उच्छेदन किया है।

ईश्वर की प्रत्यक्षानुभूति के विषय में दयानन्द की स्पष्ट मान्यता है कि परमात्मा की सत्ता की सिद्धि प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों से होती है, क्योंकि श्रोत्र, त्वचा, नेत्रादि का शब्द स्पर्श रूप आदि सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से उन का ज्ञान होता है, यही प्रत्यक्ष कहलाता है। मन और इन्द्रियों के संयोग से गुणों का प्रत्यक्ष होता है न कि गुणी का। गुणी का प्रत्यक्ष आत्मा युक्त मन से होता है। ऐसे ही इस संसार की प्रत्यक्ष रचना को देख कर उस के नियम ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से ईश्वर भी प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हो जाता है। गुणों से भिन्न गुणी नहीं जाना जा सकता है। अतः गुणों के प्रत्यक्ष ज्ञान से ही गुणी का प्रत्यक्ष ज्ञान भी सम्भव है, इसलिये ईश्वर के दयालुता, न्यायकारिता, और सृष्टि कर्तृत्व वैचित्र्यादि गुण प्रत्यक्ष होने से ईश्वर का मानस प्रत्यक्ष हो जाता है। 'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि' श्रुति का वचन दयानन्द के मत के समर्थन में प्रमाण है।



चतुर्थ अध्याय

आत्म-निरूपण

भौतिकवादी मत—

उपनिषदों में जीवात्मा के विषय में यथार्थवादी दृष्टिकोण उपलब्ध होता है। जैसे ब्रह्म के विषय में प्रत्ययवादी विचारधारा अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों की मिलती है। इसीप्रार जीवात्मा के बिषय में भी अनेक मत पाये जाते हैं। दयानन्द की आत्मा के विषय में भी ब्रह्म की तरह यथार्थवादी मान्यता है परन्तु भारतीय चिन्तना में भी आत्मा के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि चेतन आत्मा के मानने की क्या आवश्यकता है। जैसे शरीर में इन्द्रियीं जड़ हैं इसी प्रकार आत्मा भी जड़ है। अन्तर केवल इतना है कि शरीर और इन्द्रियां उस जड़ तत्व के स्थूल अंश हैं और जीवात्मा उसी जड़-तत्व का सूक्ष्मतम अंश है। यह विचारधारा चार्वाक की है। उसका कहना है कि शरीर में जो चेतनता दृष्टिगोचर होती है, वह भौतिक पदार्थों के संघात के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती है। जैसे शराब के पीने से मादकता उत्पन्न होती है उसीप्रकार चारों महाभूतों (चार्वाक केवल पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। शरीर नष्ट होने पर यह जीव भी नष्ट मानना चाहिए।[1] कहने का अभिप्राय यह हुआ कि इस सिद्धान्त के मानने पर शाश्वत नित्य आत्मा का कोई स्थान नहीं है। आधुनिक भौतिकवाद में इस विचारधारा का प्रचलन कुछ परिष्कृत रूप में पाते हैं। उन भूतों का मिश्रण रूप चैतन्य में परिणत हो जाता हैं। आधुनिक

---

१. अत्र चत्वारिभूतानि भूमिर्वायुरनलोनिला।
चतुर्भ्यःखलुभूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते॥
किण्वादिभ्य समेतोभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्। (सर्वदर्शन संग्रह-चार्वाक दर्शन)॥

भौतिक चैतन्य का आधार सत्वमूल (जीवन–प्रोटोप्लाज्म) के उपादानभूत पृथक तत्वों (कार्बन आक्सीजन, नाइट्रोजन, स्फुरगन्ध, लोहा, पोटेशियम, सोडियम आदि में) चैतन्य को न स्वीकार कर उनके मिश्रण में स्वीकार करते हैं। अन्य कुछ भौतिकवादियों का विचार है कि सैल्स से जीवन प्रारंभ होता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने स्थापना की थी कि पदार्थ जड़ को शक्ति (चेतन) में परिवर्तित किया जा सकता है। उस समय के विद्वानों ने इसे कल्पना माना था परन्तु १६१० में लार्ड रदरफोर्ड ने अपने परीक्षणों से यह सिद्ध किया कि अणु का अधिक भाग केवल रिक्त स्थान से निर्मित्त होता है। उसकी परिधि में कुछ गतिशील विद्युत् कण रहते हैं, इनके क्षेत्र को न्यूक्लियस कहा जाता है। अणु की परिधि में यह लगभग इतना ही जितना कि एक मील की परिधि में एक छोटा सा आदमी। न्यूक्लिअस का अर्थ है क्रिया के केन्द्र अथवा उत्पादन या प्रजनन का केन्द्र। यह क्रिया का केन्द्र अणु में, था उत्पादन या प्रजनन का केन्द्र सैल में होने पर कहा जाता है। सैल की रचना अनेकानेक अणुओं से मिलकर होती है। किसी सैल में अणु के गतिशील विद्युत्कणों को जिनका नाम न्यूक्लियस बताया गया है, पाश्चात्य दर्शन के साथ प्राच्य दर्शन की समानता को प्रकट करने वाले कतिपय भारतीय विद्वानों ने तेज नाम दिया है। अभिप्राय: यह है कि इस गतिशील विद्युत् अवस्था का नाम तेज है। अत: इससे यह निष्कर्ष निकाला कि तत्व (जड़ पदार्थ और तेज (चेतन) में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक ही वास्तविकता के दो रूप है। आधुनिक वैज्ञानिक भी कुछ अन्तर से इसी सिद्धान्त को स्वीकार रकते हैं।[1]

---

१. डा० उल्वर्ट आइन्स्टीन ने–अणु, (जड़ अंश) और तेज तत्व के सम्बन्ध में अपने अन्वेषणों के परिणाम स्वरूप बतलाया है कि गुरुत्वाकर्षण और चुम्बकीय विद्युत् कण परस्पर सम्बद्ध एक-दूसरे के रूपान्तरित होने वाली शक्तियां हैं। गत शताब्दी के

रूसी महिला का चेतना सम्बन्धी परीक्षण—१८५८ में रूडाल्फ-विर्चो ने एक पुस्तक लिखी जिसका नाम है सैलुलर पेथालोजी ! जहां उसने यह सिद्धान्त स्थापित किया है' कि जैसे एक दीवार दूसरों से मिलकर बनती है अथवा दीवार की रचना में एक विशेष प्रकार की इकाईयां भाग लेती हैं। ऐसी प्रत्येक इकाई को सैल कहते हैं। उसका यह भी कहना है कि एक सैल की उत्पत्ति किसी पहले विद्यमान सैल से ही होती है। सैल पद यहां चेतना के लक्षण प्रकट करता है। सर्वप्रथम जिस छोटे से छोटे देह में चेतना के लक्षण प्रकट होते हैं उसका नाम सैल है। ऐसे सैल में वह द्रव्य, जिसके कारण जीवन के लक्षण प्रकट होते हैं "प्रोटोप्लाज्म" है। विर्चो का यह विचार है कि चेतन सैल अचेतन का परिणाम नहीं, जब वह एक मूल सैल से अन्य सैल की उत्पत्ति बतलाता है। परन्तु ऐंजिल्स ने विर्चो की उक्त मान्यता का खण्डन किया है उसने बतलाया कि सैल का उद्भव भौतिक द्रव्य से हो सकता है।

वैज्ञानिक चुम्बक और विद्युत् के परस्पर सम्बन्धों का अन्वेषण करते रहे हैं। इस प्रकार आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पदार्थ के अणु किसी शक्ति प्रवाह से प्रभावित होकर स्वयं चेतन तेज में परिणत हो जाते हैं। —पं० उदयवीर शास्त्री कृत सांख्य सिद्धान्त – पृष्ठ २३-२४ ॥

१. रूसी महिला जिसका नाम श्रीमती ओल्गा वेरिसोचना लपेशिन्स्काया है। सोवियत ओमिन पत्रिका में १९५० ईस्वी के ५वें अंक में ५५ पृष्ठ पर "एट द सैल्स आफ लाइफ" नामक लेख प्रकाशित हुआ है। इसमें इस महिला को प्राणीशास्त्र की विशेषज्ञ बतलाया गया है। इस के २४ निबन्ध सेल्स के उद्भव के संबन्ध में हैं।

अब प्रश्न यह है कि सैल में चेतनता कहां से आती है। लपेशिन्स्काया ने जो परीक्षण किया था उन चित्रों द्वारा सैल बनने की प्रक्रिया का जो प्रदर्शन किया है उसमें केवल इतनी सफलता प्रमाणित होती है कि जो द्रव्य सैल नहीं है उनसे सैल की रचना होती देखी जा सकती है। प्रश्न यह है कि सैल में चेतनतता कैसे तथा कहां से आई ? चेतना के अस्तित्व को प्रकट करने वाले विधायक या विघातक क्रिया रूप लक्षण पहले पहल जहां दिखाई देते हैं वहां चेतना का अस्तित्व जान लिया जाता है परन्तु वे उपादान द्रव्य या उनसे उत्पन्न सैल स्वयं चेतना नहीं है। उपादान द्रव्यों के और पहले के उपादान द्रव्यों के साथ चेतना बैठी रहती है। परन्तु साधनों के अभाव में अभी वहां विघातक या विधायक क्रियाओं का उद्भव नहीं हो पाया। जब उपादान द्रव्य इस अवस्था में आ जाते हैं कि वहां क्रियाओं का उद्भव होने लगे उसे चेतना का अनुमान कर लिया जाता है। ऐसा स्वीकार करने पर यह प्रमाणित हो जाता है कि अचेतन मूल द्रव्यों के साथ, पर उन से सर्वथा पृथक् रूप में चेतना बनी रहती है। इस प्रकार तो अचेतन से अतिरिक्त चेतना का स्वतंत्र अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है।

१—केवल चेतन सत्ता – इस भौतिकवादी विचार धारा के प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरी विचारधारा यह है कि (जिसकी पूर्वपक्ष रूप में प्रथम अध्याय में उल्लेख कर चुके हैं। यह दृश्यादृश्य ब्रह्माण्ड केवल एक हो वस्तु का रूप है। दोनों प्रकार के जगत् की मूल सत्ता केवल एक चेतन है। जड़ पदार्थों की कोई सत्ता नहीं है। जो मूल सत्ता एक चेतन है वही ब्रह्म है।

२—जड़ चेतन दोनों का समन्वय – आधुनिक काल के दयानन्दादि दार्शनिक और न्याय और सांख्य आदि की मान्यता यह है कि वस्तुतः जड़ और चेतन दोनों ही मौलिक सत्तायें हैं। किसी भी केवल एक जड़ अथवा चेतन वस्तु के आधार पर जगत्रचना का सामंजस्य नहीं हो पाता है। जड़ से चेतन और चेतन से जड़ बना

जाना दोनों ही मान्यताओं को एकांगी कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। वास्तव में इन दोनों की सत्ताओं का जो स्वरूप वर्णन किया जाता है वह परस्पर इतना विरूद्ध है कि एक वस्तु को दूसरे का परिणाम या विकार अथवा रूपान्तर मानना दोषों से रहित नहीं कहा जा सकता है। सांख्य दर्शन आत्मतत्व को जड़ से भिन्न सिद्ध करते हुए शुद्ध तार्किक सुदृढ़ युक्तियों द्वारा अपनी मान्यता को प्रतिष्ठापित करता है कि प्रकृति से उत्पन्न जड़ पदार्थ शरीरादि (संहृत) मिलकर बने हैं। संघात स्वयं अपने लिए नही होता है जिसप्रकार शैय्यादि अपने लिए नहीं होते हैं इसलिए पुरुष संघात से भिन्न विकृति से सर्वथा पृथक् सत्ता रखता है।[1] प्रकृति से उत्पन्न जितने पदार्थ हैं वे जड़ होने से दृश्य हैं द्रष्टा नहीं। भोग हैं भोक्ता नहीं, स्व हैं, स्वामी नहीं। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने कन्धों पर स्वयं नहीं बैठ सकता है उसी प्रकार भोग स्वयं अपना भोक्ता नहीं हो सकता, इसलिए पुरुष शरीर का अधिष्ठाता, भोक्ता, प्रकृति से भिन्न है।

न्यायदर्शन भी शुद्ध तर्क के द्वारा आत्मा को भौतिकतत्व से भिन्न सिद्ध करता है। इच्छा, द्वेष,सुख, दुःख, ज्ञान और प्रयत्न यह आत्मा के लिंग हैं। इन्द्रियां अपने-२ विषयों का ज्ञान करती हैं परन्तु आत्मतत्व इन्द्रियों से पृथक् सभी विषयों का ज्ञाता है (इसी भाव को वात्स्यायन ने स्पष्ट करते हुए जीवात्मा को सर्वभोक्ता आदि विशेषणों से युक्त कहा है।[2] दूसरा हेतु न्याय देता है कि मुर्दा शरीर को जलाने पर पाप नहीं लगता है जबकि जीवित शरीर के जलाने पर हिंसा आदि पाप लगता है।[3] तीसरा हेतु यह दिया जाता है कि नीम्बू के अचार का कल रसना ने स्वाद लिया आज वही आँख के

---

१. सांख्य – १।१४० ॥

२. तत्रात्मा सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञ सर्वानुभावी।
न्यायवा० १।१।१६ ॥

३. न्याय – ३।१।४-६ ॥

सामने रखने पर रसना में पानी आने लगता है। इसका नाम इन्द्रियान्तर विकार है।[1] उत्पन्न बालक इस जन्म में नानुभूत किये हुए अज्ञान आनन्द, भय और शोक के कारणों से भय शोकादि का अनुभव करते हैं।[2]

३-स्वभाववाद—इन विचारों से भिन्न एक प्रकार के विचारक और आते हैं उनका कहना है कि इन समस्याओं में क्यों उलझा जाय? क्यों न यह माना जाय कि यह विविध ब्रह्माण्ड अनादि काल से बिना किसी परिवर्तन के गतिमान है। अपने स्वभाव से चलता रहेगा। अतः स्वभाव ही जड़ चेतना का कारण है, चेतन और जड़ की सत्ता मानने की क्या आवश्यकता है?

यह जिज्ञासा कि आत्मतत्त्व नित्य है, चेतन है या भौतिक है अति प्राचीन काल से है। कठोपनिषद् में नचिकेता तीसरे वर के रूप में यही तो पूछता है कि मृत्यु के पश्चात् जो जिज्ञासा रहती है कि मरने पर भी आत्म तत्व शेष रहता है या चार्वाक की मान्यता के समान भस्मीभूत होने पर समाप्त हो जाता है।[3] इस प्रश्न की गंभीरता इस प्रतिपादन से स्पष्ट हो जाती है कि यम आचार्य सीधा इसका उत्तर नहीं देते अपितु उसे कहते हैं कि इसके स्थान पर कुछ और संसार के वैभव आदि मांगले।[4] यमाचार्य स्पष्ट उद्घोषणा करते हैं कि इस प्रश्न पर तो देव लोगों (विद्वान्) ने प्राचीन काल से ही जिज्ञासा की है यह प्रश्न अति जटिल है।[5]

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मतत्त्व विषयक प्रश्न सामान्य नहीं है। आत्मवादियों के समक्ष भी और

---

१. न्याय० ३।१।१२ ॥

२. न्याय० ३।१।१६-२१ ॥

३. येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
कठो० १।१६ ॥

४. कठ० १।२३ ॥

५. कठ० १।२१ ॥

भौतिकवादियों के समक्ष भी अनेक समस्यायें इस प्रश्न का समाधान करते हुए सम्मुख आ खड़ी होती हैं । जैसे फ्रांस के प्रसिद्ध बुद्धिवादी दार्शमिक डेकार्तें ने यह कह कर आत्मा की सिद्धि का प्रयास किया है कि मैं विचारता हूँ इसलिए मैं हूँ अर्थात् विश्व के अखिल पदार्थों के विषय में हम सन्देह कर सकते हैं कि शायद वे न हों परन्तु जो यह सन्देह कर रहा है वह तो स्वतः सिद्ध है क्योंकि सन्देह करने वाला नहीं है तो सन्देह कौन करेगा । डेकार्तें की इस युक्ति ने दार्शनिक क्षेत्र को अच्छा योगदान दिया है। परन्तु समस्या इतने से ही नहीं सुलझी, शरीर में आत्मतत्व क्यों आता है ? शरीर और आत्मतत्व का सम्बन्ध कैसा माना जाय इन प्रश्नों के उत्तर आज तक विवाद ही बने हुए हें । परन्तु दूसरे पक्ष में अर्थात् भौतिकवादियों के मत को मानने पर तो और अधिक प्रश्न सम्मुख आ खड़े होते हैं। जिनका निराकरण आज तक भौतिकवादी नहीं कर पाये हैं। वास्तव में यह "मैं" क्या है इस का विवेचन करना अत्यन्त जटिल माना जाता है। इस प्रश्न को सुलझाने के लिये छान्दोग्य उपनिषद् में एक कथा आती है। इन्द्र और विरोचन दो जिज्ञासुओं ने श्रद्धा पूर्वक प्रजापति के पास जाकर प्रश्न किया "मैं क्या हूँ ?" आचार्य प्रजापति ने इस प्रश्न का उत्तर बड़े रोचक और नाटकीय ढङ्ग से दिया है। दोनों से कहा कि थाली में पानी भर कर देखो। जो उस में दिखलाई दे वही मैं हूँ। दोनों ने देख कर अपने को जाना । विरोचन की शंका तो इसी से दूर हो गई परन्तु इन्द्र को पुनः शंका हुई कि यह प्रतिबिम्ब तो मैं नहीं हो सकता। क्योंकि शरीर में विकृति आने पर इस में भी विकृति आजाती है। जैसे आँख न रहने पर अंधा आदि हो जाता है और शरीर के न होने पर इस का भी नाश हो जाता है।[1]

भौतिकवादियों से लेकर आध्यात्मवादियों तक मैं के विषय में जितने भी विचार हैं वे संक्षिप्त रूप में इस प्रकार हैं—

---

१. छान्दोग्य-८।६२ ॥

आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में विभिन्न मत—

१. यह शरीर ही आत्मा है। ऐसा चार्वाक आदि का मत है।[1]

२. शरीर आत्मा नहीं अपितु इन्द्रियां आत्मा हैं।[2]

३. अन्य विचारक मन को मैं या आत्मा मानते हैं।[3]

४. बौद्ध लोग क्षणिक विज्ञान को ही आत्मा स्वीकार करते हैं।[4]

५. अन्य लोगों के मत में आत्माशून्य है यह माध्यमिक बौद्ध विद्वानों का मत है।[5]

६. कुछ विद्वान् इसको कर्त्ता न मानकर केवल भोक्ता ही मानते हैं।[6]

७. कुछ दार्शनिकों का विचार है कि आत्मा शरीर से भिन्न एक पदार्थ है और वह कर्त्ता और भोक्ता है।[7]

८. कुछ दार्शनिकों का विचार है कि मैं हूँ मुझ से पृथक् एक अन्य महाशक्ति हैं जिसको ईश्वर कहते हैं।[8]

९. प्रत्ययवादी (अध्यात्मवादी) मानते हैं कि ब्रह्म ही जीव है।[9]

चार्वाकादि दार्शनिकों का सिद्धान्त अन्य भारतीय आस्तिक दार्शनिकों को एकदम अमान्य है आत्मतत्त्व का निरूपण और ब्रह्म प्राप्ति के साधनों का उपनिषदें जो वर्णन करती है, उनका सिद्धान्त मुख्यरूप में प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा आत्मतत्त्वका सिद्ध न होना है। चार्वाक उसी तत्व या पदार्थ को मान्यता देता है जो पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण

---

१. देहमात्रचैतन्यविशिष्टात्मा इति प्राकृता जनाः ॥

२. इन्द्राण्येव चैतन्यात्मत्यत्परे ॥

३. मन इत्यन्ये ॥

४. विज्ञानमात्र क्षणिकपमत्यपरे ॥

५. शून्यमित्यपरे ॥ छा० ८।९।२ ॥

६. भोक्तैव केवलं न कर्त्तत्येके ॥

७. अस्तिदेहादि व्यतिरिक्तः संसारी कर्त्ता भोक्त्यपरे ॥

८. अस्ति तदव्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरिति कंचित् ॥

९. जीवोब्रह्म आत्मत्वात्—।

द्वारा सिद्ध होता है। इसी बात का समर्थन कुछ सुसंस्कृत रूप में प्रसिद्ध व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक वाटसन् यह कह कर किया था कि जो पदार्थ प्रयोगशाला में सिद्ध न किया जा सके उसको नहीं मानना चाहिए। इसलिए उसने मन और आत्मा की सत्ता को मनोविज्ञान से निकालने का प्रयास किया था।[1] इन दोनों का खण्डन सामान्य तर्कों से सरलता से किया जा सकता है। हमारा बाल्यकाल का शरीर यौवन के शरीर से भिन्न होता है। जैसे मुझे दूसरे के देखे हुए पदार्थों का स्मरण नहीं होना चाहिए। क्योंकि बाल्यकाल का शरीर यौवन काल के शरीर से भिन्न है। यदि कहा जाय कि बाल्यकाल के संस्कार यौवनकाल के शरीर में संक्रमण नहीं हो सकता। जैसे माता की अनुभूत का गर्भस्थ शिशु को स्मरण नहीं होता। यदि कोई कहे कि उपादान कारण की वासना का उपादेयभय संक्रमण माना जाय। यह कहना भी उचित नहीं क्योंकि एक परमाणु पुंज से दूसरे परमाणु पुंज की उत्पत्ति न होने से हाथ आदि को ही उपादान मानना पड़ता है। हस्त आदि के कट जाने पर उस कटे हुए हाथ आदि से अनुभव किये हुए विषयों का खण्डन शरीर को अनुभव नहीं हो सकेगा। खण्ड शरीर में कटे हुए हाथ के उपादान न होने के कारण।[2] दूसरा हेतु यह देते हैं कि बाल्यावस्था और यौवन अवस्था के परमाणु एक ही होते हैं। परन्तु ऐसा मानने पर भी दो प्रकार के दोष आते हैं। प्रथम दोष यह है कि हम परमाणुओं को इन्द्रियों से ग्रहण नहीं कर सकते। क्योंकि ये अतीन्द्रिय हो जायेंगे। इसीप्रकार की दूसरी

---

१. विशेष—ये सभी मान्यतायें आचार्य ने अपने भाष्य में प्रस्तुत की हैं। उनकी अपनी मान्यता जीव ब्रह्म ही है व्यावहारिक जीव की सत्ता है।

२. नान्यं दृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतम् प्रक्रमात्।
वासना संक्रमो नास्ति न च गत्वन्तरं स्थिरे ॥
न्यायकु० १।१५ ॥

मान्यता आधुनिक भौतिकवादी वैज्ञानिकों की है। उन पर भी यह आपत्ति आती है कि जीवन की चेतनता सम्बन्धी समस्या सैलस् मानने से समाहित नहीं होती है। क्योंकि सैल्स स्वयं चेतना या जीवन नहीं है। यह चेतना का निवास स्थान हो सकता है। जब हम यह कहते हैं कि सैल से हो न बनकर आकृतिहीन द्रव्यों से भी सैल बन जाते हैं। उसका अर्थ यह समझते हैं कि आजीवन से जीवन न होना चाहिए। पर ऐसा नहीं है। जैसे कुछ सैल जीवित हैं। सैल से अतिरिक्त अन्यतत्वमानना अनिवार्य होगा।

इससे अगली मान्यता यह है कि शरीर को आत्मा न माना जाय तो इन्द्रियों को आत्मा मान लेना चाहिए परन्तु यह भी सिद्धान्त जड़ तत्व के समान ही है। इन्द्रियां आत्मा नहीं हो सकती क्योंकि मैं वस्तु को चक्षु से देखता हूं उसी को हाथों से छूता हूं।[1] इससे सिद्ध होता है कि इन दोनों से भिन्न कोई अन्य सत्ता है जो दोनों पर नियंत्रण रखती है, अर्थात् जिसको देखने और स्पर्श का ज्ञान हो रहा है। क्योंकि आंख देख सकती हैं, छू नहीं सकती और हाथ स्पर्श कर सकते हैं देख नहीं सकते फिर यह ज्ञान किसको हो रहा है कि जिसको मैंने देखा उसी को छू रहा हूं। या मधुर वस्तु को देखकर जिह्वा में पानी क्यों भर आता है।[2] प्रायः इसी प्रकार की युक्तियों द्वारा आचार्य शंकर ने भी देहात्मवाद के सिद्धान्त का खण्डन किया है। इस विषय पर आचार्य शंकर और न्याय दर्शन सहमत से प्रतीत होते हैं। हमें जितने भी ज्ञान प्राप्त होते हैं उनमें तीन बातें पाई जाती हैं। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय।[3] प्रत्यक्ष अर्थ में जो स्मृति होती है उससे एक ही व्यापार में तीन तथ्य प्रकट होते हैं। अतः उनका कर्त्ता भी एक ही होना चाहिए कई नहीं। वे बिना

---

१. दर्शनस्पर्शाभ्यामेकार्थं ग्रहणात् – न्यायदर्शन पर वात्स्यायन भाष्य ॥ ३।२।१ ॥

२. इन्द्रियान्तरविकारात् – न्याय० ३।१।१२ ॥

३. सर्वत्र खलु ज्ञाताज्ञानं ज्ञेयश्च गृह्यते ॥

कर्त्ता के भी नहीं हो सकती हैं।[1] अतः इन इन्द्रियों का कर्त्ता एक ज्ञान प्राप्त करता है। अतः सिद्ध होता है कि स्मृति कर्त्ता के बिना सिद्ध नहीं हो सकती है। विलियम जेम्स की भी मान्यता यही है कि स्मृति यह सिद्ध करती है कि में हमेशा हूँ मैं नहीं हूँ यह सिद्ध कदापि स्मृति द्वारा नहीं हो सकता है।

मैं की सत्ता को वेद, जो उपनिषदकों के ज्ञान का आधार है स्वीकार करता है। वह मैं शरीर, इन्द्रिय, मन, और बुद्धि, आदि से भिन्न हैं। वेदों में जीवात्मा का वर्णन अनेकों रूपों में या पद्धतियों में हुआ है। परन्तु जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन मैं के रूप में भी हुआ है। जैसा कि ऋग्वेद् मैं कहा है कि में नहीं जानता कि क्या मैं यहीं हूं जो स्थूल रूप में दिखाई देता है। अर्थात् शरीर हूं। मैं तो सन्नद्ध होकर प्रयत्न के लिए उद्यत होकर मनन शक्ति के द्वारा गति करता हूं।[2] शरीर भौतिक होने से न स्वयं यत्न कर सकता है न वह ज्ञानवान् है। न हो उसमें स्वतंत्र ज्ञानपूर्वक गति करने की शक्ति है। अगले मंत्र में फिर कहा है कि आत्मा अमर्त्य अर्थात् मरणधर्मा नहीं है नित्य और अमर होता हुआ मरण धर्मा शरीर के साथ एक स्थान होकर स्वधर्मी अर्थात् अपनी इच्छा से जकड़ा हुआ है। वह किसी वस्तु को ग्रहण करता है किसी को परे हटा कर छोड़ देता है।[3]

आचार्य शंकर भी एक कसौटी बतलाते हैं कि शरीर स्थित आत्मा हैं या नही उनका कथन है कि यदि किसो जीव धारी में ये तीन गुण; करें, न करें, अथवा उल्टा करें। (कर्तुं, अकर्तुं एवं

---

१. अथ प्रत्यक्षेऽर्थे या स्मृति · · · न नाना कर्तृकारि नाकर्तृकाणि ॥

२. न विजानामि यदि वेदस्मिनिण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
(१०।१६४:३७)

३. ऋग्वेद – १०।१६४।३८ ॥

अन्यथा कर्तुं)[1] प्राप्त हों तो जान लेना चाहिए कि इसमें आत्मा है। व्यवहार वादी तो मानते हैं कि उत्तेजक[2] के प्रत्युत्तर में प्रतिक्रिया[3] अवश्य होती है परन्तु आचार्य शंकर कहते है कि मनुष्य किसी उत्तेजक के प्रत्युत्तर में किसी निश्चित प्रतिक्रिया से बंधा नहीं है। अपितु अनेक प्रकार की प्रतिक्रिया करने में स्वतंत्र हैं। व्यवहारवाद मानवीय क्रियाओं को यन्त्रवत् बना देता है। जिसमें कर्त्ता की स्वतंत्र इच्छा का प्रश्न ही नही उठता। परन्तु आचार्य शंकर की कसौटी में पर्याप्त गुंजाइश है। दयानन्द भी जीव को कार्य करने में स्वतंत्र बतलाते हुए लगभग ऐसा ही कहते है।[4] परन्तु फल भोगने में परतंत्र मानते हैं।[5] पाणिनीय भी कर्त्ता की परिभाषा देते हुए कहते है कि कर्त्ता स्वतंत्र होता है। वास्तव में दार्शनिक विवेचना से यह सिद्ध होता है।कि भौतिकवाद व्यवहारवाद, आदि की थ्योरियों सेसंगति स्मृति, ज्ञान आदि की व्याख्या का सामञ्जस्य कदापि नहीं हो सकता है। प्रो० मलकानी का कथन है कि प्राणी की बौद्धिक प्रतिक्रियायें किसी उस जड़ पदार्थ का गुण नहीं हो सकती जो शरीर में स्नायुमण्डल को बनाता है।

आत्मतत्व क्षणिक है यह विचारधारा बौद्ध दार्शनिकों की हैं, बौद्ध दर्शन समस्त पदार्थों को क्षणिक या परिवर्तनशील मानता है।[6] अतः आत्मतत्व भी क्षणिक है। इनके मत में आत्मा विज्ञानों का प्रवाहमात्र है। परन्तु आत्मा को क्षणिक मानमे से स्मृति की उपपत्ति नही हो सकती है। क्योंकि प्रथम क्षण का आत्मा दूसरे क्षण के

---

१. द्रष्टव्य – ब्र० सू० पर शांकर भाष्य १।१।४ ॥
२. स्टीमुलस।
३. रैसपोन्स।
४. इसलिए अपने सामर्थ्यानुकूल जीवकर्म करने में स्वतन्त्र हैं।
स० प्र० ७ समु० पृष्ठ २११ ॥
५. स० प्र० ७ समु० पृष्ठ ३११ ॥
६. यत क्षणिकं तत् सत्–विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि ॥

आत्मा से भिन्न होने से पूर्व काल के आत्मा की स्मृति नहीं हो सकेगी अन्य के देखे हुए या अनुभव किए हुए पदार्थों का अन्य जो स्मरण नहीं हो सकता है। जब वह आत्मा रहा ही नहीं तो जो जैसा करता है वैसा वही भोगता है का सिद्धान्त का खण्डन हो जायेगा और जिसने वह कर्म नहीं किया,वह उसको भोगने लगेगा।[१] अतः आत्मा को प्रवाह का केवल पुंज मानने से स्मृति और मोक्ष आदि की समस्या का समाधान कदापि नहीं हो सकता है।

आत्मा का स्वरूप—

दयानन्द शरीर से भिन्न आत्मा को शाश्वत नित्य रूप में स्वीकार करते हैं न तो वे भौतिकवादियों की तरह आत्मतत्व को जड़तत्व से निर्मित मानते हैं और न ही जीवात्मा को मायोपहित चैतन्य रूप में मान्यता प्रदान करते हैं जीवात्मा के स्वरूप का उल्लेख उन्होंने उपनिषदों के मन्त्र तथा वेद के मंत्र और अन्य दर्शनों के अनुसार ही किया है। श्वेताश्वतेर उपनिषद् का प्रमाण देते हुइ बतलाते हैं कि तीन अज अर्थात् नित्य हैं।[२] उनका जन्म कभी भी नहीं होता है। उनमें अजा प्रकृति है यह अज जीवात्मा उस त्रिगुणात्मिका प्रकृति जिससे समस्त दृश्य जगत् निर्मित होता, उससे निर्मित पदार्थों का उपभोग करता है। एक तीसरा अज और है जो इस प्रकृति से निर्मित पदार्थों का उपभोग नहीं करता है। वह परमात्मा है। इस प्रकार ये तीनों प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज कहे गये हैं और तीनों जगत् के कारण हैं।[३] अर्थात् जीवात्मा का कोई कारण नहीं अपितु जीवात्मा जगत् के कारणों में एक है।

---

१. कृतप्रणाश-अकृतकर्मभोग। स्यादवाद मंजरी॥

२. न जायते इतिः अजः जीवश्च परमेश्वरश्चः। न जायते इति अजा प्रकृति॥

३. अजामेकां लोहिशुक्ल कृष्णा ••• अजोह्येको ••• भक्तभोगा-अजोऽन्यः। —श्वेता० ४-५॥

वह आत्मा भौतिक तत्वों से निर्मित नही है अपितु अनादि है, इस तथ्य की उद्घोषणा उपनिषदें स्पष्ट रूप में करती है। कठोपनिषद् स्पष्ट मान्यता प्रदान करतो है कि वह आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है और न ही किसी वस्तु का परिवर्तित रूप है। तथा उससे परिणाम होकर कोई अन्य वस्तु भी नहीं बन सकती है। यह अजन्मा और नित्य है। सदा रहने वाला और पुराना है। शरीर के नाश पर उसका नाश नहीं होता है।[1]

छान्दोग्य उपनिषद् भी य ही स्वीकार करती है कि जीव का विनाश कभी नहीं होता है अपितु जीव शरीर से निकल जाता है। शरीर मरता है जीवात्मा नहीं।[2] बृहदारण्यक उपनिषद् केयाज्ञवल्क्य और मैत्रेयी सम्वाद में जीवात्मा को नित्य और अविनाशी बतलाया है।[3] गोता में भी आत्मा को नित्य और शाश्वत माना गया है। गीता में भी जीवात्मा का विशद और रोचक वर्णन किया गया है। यह आत्मा नित्य है। इसे शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि, जला नहीं सकता है। जल गला नहीं सकता और वायु शुष्क नहीं कर सकता है। जैसे मनुष्य नये घर में प्रवेश करता वैसे ही जीवात्मा भी नवीन शरीरों को प्राप्त करता है। और पुराने शरीरों को छोड़ देता है। इस प्रकार आत्मा अनादि और नित्य है।[4] वेदों में उपनिषदों को तरह आत्मा सम्बन्धी अनेक मंत्र प्राप्त होते हैं। अथर्व वेद में परमात्मा से प्रार्थना को गई है कि है हे ईश्वर मैं आपकी कृपा

---

१. न जायते म्रियते वा विपश्चित् – नायं कुतश्चिन्नुन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वातोऽयं हन्यसे हन्यमाने शरीरे ॥ कठो० २।१८ ॥

२. जीवापेतं वां किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते–छान्दोग्य–६।११ ॥

३. न वा अरे अहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्ति धर्मा – बृ० ४-५-१४ ॥

४. गीता – ११।३२ ॥
गीता – १५।५८, ५६ ' ' ' २।२३ ॥

से अगले जन्म में मन सहित ११ इन्द्रियों, प्राणों को धारण करने, सामर्थ्य युक्त, आत्मा, मन एवं वेद का ज्ञान प्राप्त करूं।[१] दयानन्द आत्मा को नित्य और उसका पुर्नजन्य स्वीकार करते हुए वेदभाष्य में कहते हैं कि हे सुखदायक परमेश्वर आप कृपा करके पुर्नजन्म में हमारे बीच में उन नेत्रादि समस्त इन्द्रियों की स्थापना कीजिये प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त अहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुर्नजन्म में दीजिए।[२] यजुर्वेद कहता है कि हे परमेश्वर जब जब हम जन्म लेवें तब तक हमको शुद्ध, मन, पूर्ण, आरोग्यता, प्राण कुशलता युक्त जीवात्मा उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों। उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वेद और उपनिषदें जीवात्मा को नित्य एवं शाश्वत और पुर्नजन्म लेने वाली मानती है। निरुक्त में भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि "मृत्यु को प्राप्त हो कर हम पुनः जन्म लेते हैं और जन्म लेकर पुनः मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह जीवात्मा नाना प्रकार की योनियों में मृत्यु और जन्म को प्राप्त होता हुआ बहुविध प्रकार की माताओं का स्तन पान करता है। यह जीवात्मा आप को उक्त प्रकार मान कर प्रभु भक्ति करने की अभिलाषा व्यक्त कर रहा है।[३]

उक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि उपनिषद् काल में जीवात्मा को अनादि माना जाता था। उपनिषदों में यह विवेचन जीवात्मा अनादि है, इस विषय को ले कर बहुत विवाद उपलब्ध नहीं होता है इस के कुछ कारण यह प्रतीत होते हैं कि उस काल में जीवात्मा

---

१. पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च – अथर्व० कां ७ सू० ६७ ॥

२. असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुन प्राणमिह नो धेहिभोगम्। ऋग्वेद-८, १।२३।१ इस मंत्र पर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में द्रष्टव्य २१८, २१९ ॥

३. (क) मृतश्चाहं पुनंजातः······॥
(ख) अवाङ्मुखपीड्यमानो···निरुक्त-अ० १४।६ ॥

के सम्बन्ध में संभवतः भौतिक विचारधारा और आत्मवाद का विचार बहुत न्यून होगा। क्योंकि उपनिषदे ब्रह्म का प्रतिपादन उस का साक्षात्कार कैसे किया जाय आदि विषयों पर विवेचन अधिक प्रस्तुत करती है। इन बातों से यही अधिक समीचीन लगता है कि उपनिषदों का आत्मतत्त्व सम्बन्धी स्पष्ट विचार था। ऋषि दयानन्द भी उपनिषदों के प्रमाणों से यह सिद्ध करते हैं कि इस का प्रादुर्भाव न तो भौतिक तत्वों से हुआ है और न हो ब्रह्म से इस की उत्पत्ति हुई है।[1] अतः जिस प्रकार ब्रह्म का कारण नहीं है इसी प्रकार जोव का भी कोई कारण नहीं है। जिस पदार्थ का कभी निर्माण नहीं होता वह विनष्ट भी कभी नहीं होता। इस लिए ऋषि दयानन्द को नित्य और अमर मानते हैं। वह इस शरीर को छोड़ कर अन्य शरीर को धारण करता है जैसा कि हम उक्त प्रमाणों से देख आये हैं।

ईसाई दार्शनिक सन्त थामस ने सम्प्रदाय के अनुसार जीवात्मा को अमर तो माना परन्तु नित्य नहीं माना है। ईश्वर जन्म के समय प्रत्येक प्राणी के लिये नये जीवात्मा की उत्पत्ति करता है।[2] प्रसिद्ध दार्शनिक डेकार्टे भी जीव और प्रकृति तथा ईश्वर को पृथक्-पृथक् मानता है परन्तु वह जीव और प्रकृति की उत्पत्ति ईश्वर से निर्मित मानता है। यदि ईश्वर चाहे तो इन्हें नष्ट भी कर सकता है।[3] अतः डेकार्टे का अभिप्राय है कि जीव ईश्वर पर

---

१. ईश्वर नाम, क्या और ब्रह्म से भिन्न अनादि अनुत्पन्न और अमृत रूप जीव का जीव है। सत्यार्थ प्रकाश समु० ७ पृष्ठ १९७ पर॥

२. The soul is not transmitted with the semen but is created afresh afresh eachman. Russel B. History of Western Philosophy-p, 480.London–1947.

३. Descartes admitted three substances, God and mind and metter, it is true that even for him God was in sense

आश्रित है। वह परमात्मा की कृतिमात्र है। इसी भाव को स्पिनोजा दूसरे रूप में प्रस्तुत करता है। जीवात्मा द्रव्य परमात्मा के अनेक रूप व गुणों में दो रूप हैं जिनके द्वारा प्रसिद्ध को प्राप्त करता है। इसके मतानुसार जीवात्मा के अनादि परमात्मा का रूप होने से उसके नित्यत्व या अमरत्व का प्रश्न बड़ा विचित्र सा प्रतीत होता है क्योंकि ईश्वर आत्मा को अमर माने बिना कैसे चल सकेगा। जैसा कि काण्ट ने नैतिक जीवात्मा को अमरता पर इसलिए जोर दिया है कि नैतिकता का आधार इसके बिना कैसे चल सकेगा जीवात्मा को प्रत्यक्षों की एकता के आध्यात्मिक नियम के रूप में स्वीकार करते हैं। इस जन्म के सुख दुःखों के आधार पर पुर्नजन्म को मानते हैं क्योंकि पुर्नजन्म के आधार पर इससे पूर्व का जन्म और उसके आधार पर अन्य पुर्नजन्म, इस प्रकार तो जीवात्मा के अनेक जन्म माने जा सकते हैं। इस तरह आत्मा को नित्य माना जा सकता है। परन्तु काण्ट यहां स्पष्ट नहीं हैं। ईश्वर ने आदम को निर्मित किया और उसके नथुनों में जीवन स्वांस फूंका बाइबल का यह कथन काण्ट को छोड़कर अन्य उक्त दार्शनिकों के चिन्तन में स्पष्ट प्रतीत होता है। कुरान भी यही कहता है कि परमात्मा ने आदम नथुनों में जीवन फूंका और वह आगे आने वाले समस्त जीवधारियों का जीवन था। इस्लाम सम्प्रदाय में जीवात्मा एक बार बना दिया और जिस प्रकार एक दीपक लौ से अनेक दीपक जलाये जा सकते हैं उसीप्रकार चेतना का एक भाग माता-पिता से बच्चों में आ जाता है। इसके अनुसार जीव एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् समाप्त नहीं होता अपितु इस जीवन तथा जीवन के पश्चात् न्याय के दिन तक क्रोध में रहता और बाद में अपने कर्मों के अनुसार फल भोगने हेतु स्वर्ग अथवा नरक में सदा के लिये चला जाता है। परन्तु यहाँ यह पूछा जाता है क्या उसी प्रकार

---

more substential than mind and matter, sicnde he had created them and could if he chose annihilate them.

Ibid. p. 594.

मृत्यु के पश्चात् चेतन तत्त्व का अन्त नहीं हो जाता है एक प्रश्न और भी किया जा सकता है कि परिमित कर्मों का फल सदा के लिये प्राप्त होने वाले स्वर्ग और नरक अपरमित रूप में कैसे प्राप्त हो सकेंगे । कब्र में जीवात्मा का क्या उपयोग है ?

जीवात्मा को बना हुआ मानना तर्क के सर्वथा विरुद्ध है। जो निर्मित हुआ है उसका नाश भी अवश्यम्भावी है जोवात्मा को निर्मित मानने पर अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं। परमात्मा ने जीव को किस तत्व से निर्मित किया होगा यदि जड़ से माना जाय तो यह संभव नहीं क्योंकि जड़ में चेतनता न होने से जीव का निर्माण भौतिकतत्वों से कभी भी संभव नहीं है। यदि कहा जाय कि परमात्मा अपने में से निर्माण करेगा। यदि कहा जाय कि स्वयं जीव रूप में विभाजित हो गया तब परमात्मा विकारी हो जायेगा सबसे जटिल प्रश्न यह सामने उपस्थित होता है कि उसे क्या आवश्यकता थी जो जीव रूप होकर नाना प्रकार सुख दुखों को भोगता हुआ जन्मता और मरता रहे। अतः जीवात्मा के निर्माण की मान्यता उपनिषदों को कभी भी मान्य नहीं है। जीवात्मा को नित्य, शाश्वत और शरीर के मरने पर सिद्धान्त स्वीकार कर उपनिषदें जीवात्मा को अनादि एवं अमर दोनों रूपों में स्वीकार करती हैं। दयानन्द उपनिषदों की तरह जीव को सत् रूप में मान्यता देते हैं। जीवात्मा को पृथक् मानने से ही साध्य–साधक, उपास्य–उपासक, भोग्य–भोक्ता तथा ज्ञाता–ज्ञेय रहेंगे, नही तो एक मानने पर सब एक ही हो जायेंगे। तब कौन किसकी उपासना करे कौन किस को भोगे कौन किसको जाने। हमारी व्यावहारिक जीवन की स्थिति भ्रमवत् मानने से पूर्णतः महत्वहीन हो जाती है।

दयानन्द के सामने यह समस्या उत्पन्न हुई कि जीवात्मा सर्वज्ञ है या अल्पज्ञ। वे जीवात्मा को स्वभाव से अल्पज्ञ मानते हैं।[1]

---

१. क्योंकि जीव का परम अवधि तक ज्ञान बढ़े तक परिमित ज्ञान

अविद्या की समस्या को ऋषि दयानन्द ने बड़े सरल ढंग से सुलझाया है। अविद्या को ही विश्व निर्मात्री शक्ति का रूप दे देते हैं। दूसरी ओर यदि माया को न माना जाय तो प्रश्न उठता है कि अनादि जीवात्मा जन्म-मरण सुख और दुःखादि के चक्र में क्यों आपड़ता है। दयानन्द इस समस्या का समाधान इस प्रकार निकालते हैं कि जीव स्वरूप से अल्पज्ञ या अनन्तज्ञानवान् नहीं हो सकता है। यही अज्ञान उसको संसार के चक्र में फ़ंसाये रखता है। क्योंकि अल्पज्ञता अपने में अज्ञान को रखती है। यही अज्ञान की अवस्था जीवात्मा को संसार की अपनी परम सत्ता की वास्तविक अर्थात् तात्विक अवस्था को समझने में बाधक है।[1]

दयानन्द न्यायदर्शन का प्रमाण देकर जीवात्मा का लक्षण इसप्रकार करते हैं कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख और ज्ञान वाला जीव है। उनका इस रूप में स्पष्ट है कि इच्छादि ये जड़ के गुण कभी भी नहीं हो सकते हैं। यह तथ्य तौसभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं कि यदि जीवात्मा इस शरीर में न रहे तो यह शरीर निष्क्रिय तथा शून्य सा हो जाता है। अर्थात् उक्त छः गुणों में शरीर तभी तक रहते हैं जब तक कि इसमें जीवात्मा के रहने पर रहते हैं न रहने पर नही रहते। इन गुणों को दो भागों में कुछ विद्वान् विभाजित करते हैं। ज्ञान और प्रयत्न इसके स्वभाविक गुण है और इच्छा, सुख दुःख और द्वेष शरीर के निमित से आते हैं। परन्तु दयानन्द कहते हैं कि उसके सत्य संकल्पादि स्वभाविक

और सामर्थ्य वाला होता है। अनन्त ज्ञान और सामर्थ्य वाला नहीं हो सकता है।

१. जीव का स्वरूप आत्मा होने से आवरण में आता है स० प्र० पृष्ठ २२१। शरीर के साथ प्रगट होने सरूप जन्म लेता पापरूप कर्मों के फलभोग रूप बन्धन में फंसता है। उस को छुड़ाने का साधम करता है। दुःख से स० प्र० पृष्ठ २३७ ॥

गुण सामर्थ्य सब रहते हैं भौतिक संग नहीं रहता है।[1] वे आगे वर्णन करते हैं कि मुक्ति में भौतिक शरीर या इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते किन्तु स्वभाविक गुण रहते हैं।[2]
जीवात्मा के साथ नहीं रहते किन्तु स्वभाविक गुण रहते हैं।
समस्त इन्द्रियों की शक्तियां जीवात्मा में संकल्प रूप में विद्यमान रहती हैं।[3] दयानन्द चौबीस प्रकार के सामर्थ्य से युक्त जीव को मानते हैं।[4]

जीवात्मा और ब्रह्म में भेद—

उपनिषदों की यथार्थवादी व्याख्या के अनुसार जीव और ब्रह्म दोनों ही पृथक् अपनी सत्ता रखते हैं। प्रत्ययवादी दार्शनिक जीव की सत्ता को यथार्थ रूप में स्वीकार नहीं करते। गौडपादाचार्य तो जन्म, मृत्यु मोक्ष आदि सबको भ्रम मानते हैं। आचार्य शंकर के मत में अज्ञान के कारण दूर हो जाने पर ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। अज्ञान के कारण जीव बनता है। इस दार्शनिक वादविवद को प्रस्तुत करने से पूर्व उपनिषदों का मत प्रमाणरूप में क्या है? यह अवलोकन करना अपेक्षित है। ऋग्वेद और मुण्डक उपनिषद् में एक ही मंत्र दोनों जगह आता है। स्पष्ट रूप में कहा है कि दो सहवासी सत्ता

---

१. स० प्र० समु० ६ – पृष्ठ २७१॥

२. स० प्र० समु० ६ – पृष्ठ २६१॥

३. शृण्वन् श्रोत्रं भवति—बोध्यन् बुद्धि भवति–शतपथ कां० १४–अ० २–ब्रा० २–कं० १७॥

४. प्रश्न—उस की शक्ति के प्रकार की और कितनी है?
उत्तर—मुख्य एक प्रकार की शक्ति है परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण; प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, संयोजक, विभाजक, वर्णन, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन, गन्ध ग्रहण और ज्ञान इन २४ प्रकार के सामर्थ्य से युक्त जीव है।
स० प्र० समु० ६ पृष्ठ २७२॥

जीवात्मा और परमात्मा अपने समान अनादि प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठकर उनमें से एक वृक्ष के स्वादु फलों का उपभोग करता है दूसरा उन फलों का उपभोग नहीं करता अपितु अपने सखा का साक्षी मात्र है। जो सखा फलों को खाता है वही उसके परिणामों को भोगता है। दूसरा जो साक्षी वह कभी भी किसी भी प्रकार के बन्धन में नहीं आता है।[1] इससे अगले मंत्र में ही मुण्डक उपनिषद् में और स्पष्ट रूप में कहा है कि इस प्रकृति रूपी वृक्ष पर भोक्ता जीवात्मा निमग्न है। प्रकृति की नाना प्रकार की मोहात्मक शक्ति से मोह अर्थात् राग को प्राप्त हो रहा है जो वीतराग योगी अपने आत्मा को निर्मल कर परमात्मा को अपने से भिन्न साक्षात्कार करता है। तब वह जीवात्मा शोक रहित हो जाता है।[2] नचिकेता को यमाचार्य उपदेश देते हैं कि मानव शरीर के परमोत्कृष्ट निवास स्थान हृदयाकाश में प्रविष्ट हुए जीवात्मा और परमात्मा छाया और धूप की भाँति वर्तमान रहते हुए सत्य ज्ञान का पान कर रहे हैं।[3] इनमें एक ज्ञाता है दूसरा ज्ञेय है। बृहदारण्यक उपनिषद् में जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट करते हुए कहा कि जो आदित्य (सूर्य) में और जो दायें नेत्र में पुरुष हैं वह एक दूसरे में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म सर्वत्र व्यापक होने से सूर्य में भी और अर्थात् जीवात्मा में भी और ये दोनों एक दूसरे में स्थित हैं।[4]

श्वेताश्वेतरोपनिषद् में स्पष्टरूपेण व्याख्यान किया है कि ये

---

१. द्वासुपर्णा सयुजा सखाया......ऋग्वेद – १।६४।२०।
मुण्डक० ३।१।१॥

२. समानेवृक्षे पुरुषोनिमग्नो......मु० उ० ३।१।२॥

३. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहाम्प्रविष्टौ......छायातपौ।
कठ० १।३।१॥

४. तद् यतत् सत्यमसौ आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो-यश्चायं दक्षिणे वृक्षान् पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ॥
बृहदा० ५।५।२॥

ईश्वर और जीव क्रमशः सर्वज्ञ और अल्पज्ञ हैं, अर्थात् ईश है ये दोनों ही अजन्मा हैं अर्थात् किसी से विकृत हो कर उत्पन्न नहीं हुए हैं। इन दोनों से भी पृथक् एक अज अर्थात् प्रकृति ही पुरुष के उपभोग का साधन बनती है।' यहां स्पष्ट रूप में ज्ञाज्ञो द्विवचन पद देकर जीव और ईश्वर में भेद प्रतिपादन किया है।

उपनिषदों में जीव तथा ब्रह्म का भेद हमें अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। अनेकों स्थानों पर जीवात्मा को ब्रह्म के दर्शन करने के लिए उपासना करने का कथन है उपासना तभी संभव है जबकि जीवात्मा और परमात्मा भिन्न-२ हों। हां उपनिषदों में यह अवश्य वर्णन उपलब्ध होता है कि जीवात्मा परमात्मा का सानिध्य प्राप्त कर वह भी महान् हो जाता है। महान् ही नहीं अपितु महतर भी हो जाता है परन्तु महत्तम नहीं होता। इसी को मुण्डक उपनिषद् में इसप्रकार कहा कि परम ब्रह्म में जानने वाला ब्रह्म (महान्) हो जाता है। परन्तु सूक्ष्मता से पर्यपेक्षण करने से ज्ञात होता है कि यहां भी जीव और ब्रह्म में भेद ही प्रतिपादित किया है। यदि अभेद प्रतिपादन करने का उद्देश्य होता तो "परमब्रह्मवेद" परम ब्रह्मैवभवति पद होना चाहिए था। क्योंकि आचार्य शंकर ब्रह्म शब्द का अर्थ स्वयं महान् करते हैं। जैसा कि पूर्व अध्याय में देख चुके हैं। जीव महान् तो हो जाता है परन्तु परम महान् नहीं। जो परमात्मा आत्मा अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है। जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है। जैसे शरीर में जीवात्मा रहता है ऐसे ही परमेश्वर जीवात्मा से सूक्ष्म होकर इसमें रहता।'

---

१. ज्ञाज्ञो द्वावजावीशनीशा वैव ह्येका भोक्तृ भोग्यार्थ युक्ता ॥ श्वेता० १।६ ॥

२. परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति – मु० उ० ३।२।६ ॥

३. स० प्र० समु० ७ पर द्रष्टव्य—

दयानन्द के मन्तव्य के अनुसार उक्त विवेचना यह सिद्ध करती है कि जीव और ब्रह्म में भेद औपाधिक नहीं है अपितु यथार्थ रूप में है।

आचार्य शंकर का मतः—

आचार्य शंकर उपनिषदों का और वेदान्त दर्शन का भाष्य करते हुए जीव और ब्रह्म में अभेद सिद्ध करने का पूरा प्रयास करते हैं। वेदान्त दर्शन के शांकर भाष्य में वे उद्धरण द्रष्टव्य है जो जीव और ब्रह्म में अभेद सिद्ध करते हैं।

१– ब्रह्म के दो रूप हैं, एक तो नाम रूप विकार भेद की उपाधि वाला दूसरा इसके विपरीत सब प्रकार की उपाधियों से छूटा हुआ था।[1]

२– वहां अविद्या की अवस्था ब्रह्म के उपास्य और उपासक आदि लक्षण वाले सब व्यवहार होते हैं। ये सब इन में उपाधि के भेद में भेद होता है।[2]

३– परमात्मा ही देह, मन, बुद्धि की उपाधिओं से परिच्छिन्न होकर भूखों के लिए शरीर अर्थात् जीव कहलाता है।[3]

४– जीव और ब्रह्म का भेद अविद्या के कारण है। पारमार्थिक रूप में ही है आत्मा एक ही है दो नहीं हो सकते हैं।[4]

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽनन्तरे ययात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्। आत्मनो अन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः। माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण – १४।६।७।३ ॥

1. द्विरूपं हि ब्रह्मवगयते, नामरूपबिकारभेदोपाधि·· शांकर– १।१।१२ ॥
2. तत्राविद्यावस्तायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षण सर्वो व्यवहारः—तेषां गुणविशेषोपाधिभेदेन भेदः। शा० मा० १।१।१२ ॥
3. पर एवात्मा···परिच्छिन्यमानो बालै शारीर इत्युपचयते ॥ शां० १।२।६ ॥
4. अविद्या प्रत्युपस्थापित कार्यकरणोपाधि निमित्तोऽयं न पार-

५– कुछ अन्य मतावलम्बी जीव के रूप को पारमार्थिक ही मानते हैं। इसमें से भी कुछ लोग इस मत के हैं। हमने शारीरिक आरंभ उन्हीं के भ्रम को दूर करने के लिए किया है। जिससे स्पष्ट हो जाय कि आत्मा एक ही है। एक ही कुटस्थ नित्य जादूगर की तरह अनेकों प्रकार का दिखाई पड़ता है।[1] यहां आचार्य शंकर ने अस्मदीया कह कर यह प्रकट कर दिया है कि कुछ वेदान्ती विद्वान् ऐसे थे जो जीव ब्रह्म से भिन्न पारमार्थिक रूप में मानते थे। उपाधिकृत नहीं।

अन्य और भी अनेकोंस्थलों पर आचार्य शंकर ने जीव और ब्रह्म में अभेद स्थापित करने का प्रयास . किया है। परन्तु आचार्य शंकर स्वयं कुछ सूत्रों पर भाष्य करते हुए भेद परक भी अर्थ करते हैं। जितना शंकर स्वयं कुछ सूत्रों पर भाष्य करते हुए वे उद्धरण भी उन्हीं के शब्दों में क्रमशः समीक्षा के लिए प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

१–आनन्दमय परमात्मा ही हैं जीव नहीं। इतर का अर्थ है ईश्वर भिन्न संसारी या जीव के लिये आन्दमय शब्द नहीं लाते क्योंकि उत्पत्ति नहीं बैठती है।[2]

२–यहां भी आन्दमय जीव नहीं क्योंकि आन्दमय अधिकार से उपनिषद् (तै० २।२७) में कहा है कि ब्रह्म रस है। यह रस को पाकर ही आनन्द होता है यहां स्पष्ट रूप में जीव और ब्रह्म अभेद द्वारा बतलाया गया है।[3]

मार्थिकः एकोहि प्रत्यगात्माभवति न द्वौ प्रत्यगात्मानौ संभवतः। शां० मा० १।२।२०॥

१. अपरेतु वादिन'''अस्मदीयानूच केचित्'''शांभा० १।३।१९ ॥

२. इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा। नेतरः ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः – शां० भा० १।१।१६ ॥

३. इतश्च नानन्दमयः संसारी – जीवानन्दमयौ भेदेन व्यपदिषति– शां० भा० १।१।१७ ॥

३–भेद तो विज्ञानात्मा (जीव) और परमात्मा में ही होता है। कठोपनिषद् में आत्मा को रथी और शरीर को रथ बतलाया है। इस रूप से विदित होता है कि यहां तात्पर्य विज्ञानात्मा अर्थात् जीव से है जो संसार रूपी यात्रा मोक्ष प्राप्ति के लिये कर रहा है (उसे उपनिषद् में कहा है कि वह मार्ग से पार जाकर विष्णु के परमपद को पाता है। यहां परमात्मा से तात्पर्य है। कठोपनिषद् में इससे पहले कहा गया था कि वीर पुरुष अध्यात्म योग द्वारा हृदय के भीतर छिपे हुए देव को जानकर हर्ष और शोक के द्वन्द्वों से छूट जाते हैं। यहां जीव और ब्रह्म का स्पष्ट भेद है।[1] यहां पर आचार्य शंकर अनेक उपनिषदों के प्रमाणों द्वारा इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए जीव और ब्रह्म का भेद प्रतिपादन करते हैं। जिन उपनिषदों के प्रमाणों के हमने भेद सिद्ध में प्रस्तुत किया है, उनमें से कुछ प्रमाणों को यहां इस सूत्र की व्याख्या में उन्होंने प्रयुक्त किया। यद्यपि सूत्र में ही भेद का प्रतिपादन स्पष्ट था परन्तु आचार्य ने अन्य उद्धरण और युक्तियों से उसकी व्याख्या कर सोने में सुहागे का कार्य किया है।

४–आगे पुनः लिखते हैं यद्यपि ब्रह्म सबके हृदय में विद्यमान है तथापि उसे दुःख, सुख, तथा संभोग नहीं मिलता है। क्योंकि जीव और ब्रह्म में विशेषता (भेद) है। जीवकर्त्ता भोक्तादि गुणों से युक्त है। ब्रह्म पापादि से मुक्त है, इसलिए भोग जीव के लिए है ब्रह्म के लिये नहीं है।[2]

५–सुषुप्ति और उत्क्रान्ति दोनों में जीव और परमेश्वर का

विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव भवति – जीवात्मपरमात्मनो – एष एव न्यायः – शा० भा० १।२।१२ ॥

१. विशेषणं च विज्ञानापरमात्मनोरेव भवति–जीवात्मपरमात्मनो एष एव न्यायः। शां० भा० १।२।१२ ॥

२. न तावत् सर्वप्राणिहृदयसम्बन्धाचशरीरवद – एतस्माद् अनयोविशेषादिकस्यभोगो न इत्यस्य – शां० भा० १।२।८ ॥

भेद बताया है। सुषुप्ति का उदाहरण—यह पुरुष प्राज्ञ आत्मा से मिलकर न बाहर का कुछ देखता है न भीतर का यह जीव और परमेश्वर का भेद बताया गया है। यहां पुरुष का अर्थ जीव है। क्योंकि जानने की क्रिया अर्थात् वह न बाहर की बात जानता है और न भीतर की।[1] आचार्य शंकर यह भेद व्यावहारिक मानते हैं परन्तु व्यवहार काल कहकर भेद परक श्रुतियों से बचा नहीं जा सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि वेदान्त दर्शन और उपनिषदों की मूल भाषा में कहीं पर भी व्यवहारकाल और पारमार्थिककाल का संकेत मात्र भी उपलब्ध नहीं होता है। वेदान्त दर्शन में ऐसे बहुत से सूत्र अवश्य हैं जिनकी अद्वैत परक व्याख्या करना संभव प्रतीत नहीं होता। उन सूत्रों की व्याख्या इस प्रकार है, यह व्याख्या कुछेक अन्तर के साथ सभी आचार्यों को मान्य है।

दयानन्द द्वारा शंकर के मत का खण्डन—

१– ब्रह्म से जीवात्मा आनन्दमय नहीं है क्योंकि उपपत्ति युक्ति द्वारा इसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है।[2]

२– भेद का कथन होने से जीवात्मा और ब्रह्म में भेद यह कहकर बतलाया गया है कि जीवात्मा आनन्दमय नहीं है।[3]

३– जीवात्मा व ब्रह्म में भेद है क्योंकि जीवात्मा ज्ञाता है औ द्यौ आदि के आयतन को ज्ञेय कहा है। इस लिए ज्ञेय से भिन्न ज्ञाता जीवात्मा द्यौ आदि का आयतन नहीं माना जा सकता। क्योंकि ज्ञेय से और ज्ञाता दोनों भिन्न होते हैं।[4]

४– धारी जीवात्मा द्यु आदि का आयतन नहीं हो सकता है।

---

१. सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च शरीराद् भेदेन परमेश्वरस्य व्यपदेशात् – शां० भा० १।३।४२ ॥

२. नेतरोऽनुपपत्तेः – वे० द० १।१।१६ ॥

३. भेदव्यपदेशाच्च – १।१।१७ ॥

४. भेदव्यपदेशात् – १।३।५

क्योंकि वह प्राणवान् है। अतः इससे सिद्ध हो जाता है कि द्यो आदि का आयतन ब्रह्म है, जीव नहीं।[१]

५– जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि वह नित्य है। न ही श्रुति में उसके उत्पन्न होने का प्रमाण उपलब्ध होता। यहां श्रुति को प्राप्त मानकर ब्रह्म की तरह जीवात्मा को भी नित्य बतलाया है। अतः जीवात्मा को ब्रह्म से ही मायोपहित चैतन्य निर्मित मानना या आगे ब्रह्म हो जायेगा, इन दो रूपों का खण्डन इस सूत्र से हो जाता है।[२]

६– आत्मा चेतन स्वरूप है और वह नित्य तथा एक स्वरूप रहता है।[३]

७– जीवात्मा मुक्ति प्राप्त करने पर भी जगत् आदि का निर्माण नहीं कर सकता है। वह जगत् रचना स्थिति और प्रलय तथा जीवात्माओं के कर्म फल की व्यवस्था नहीं कर सकता है। यह कार्य केवल ब्रह्म ही कर सकता है।[४]

८– मस्तिष्क गत हृदय देश रूप गुहा में निश्चय रूप में दो आत्मायें हैं अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा है, वहां उन दोनों के दर्शन होते हैं।[५] यहां सूत्र कार स्पष्टरूप में जीवात्मा और ब्रह्म में

---

१. प्राणभृच्च – १।३।४ ॥
२. नात्मश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः २।३।१७ ॥
३. ज्ञोऽत एव – २।३।१८ ॥
४. जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणावाद संनिहितत्वाच्च – वे० ४।४।१७ ॥
इन सूत्रों का अर्थ यथार्थवादी व्याख्याकार श्री उदयवीर शास्त्री जी के भाष्य को आधार बना कर किया गया है। आचार्य शंकर स्वयं भेदपरक अर्थ किया है पर आचार्य यह लिखना नहीं भूले कि यह भेद अविद्याकृत है। समस्त ब्रह्मसूत्रों में इसका कहीं संकेत नहीं मिलता है कि यह भेद अविद्याकृत है।
५. वे० द० सू० १।२।११ ॥

भेद स्वीकार करता है। जैसा कि पीछे हम आचार्य शंकर का भाष्य अनेक सूत्रों पर देख आये हैं, उसीप्रकार यहां पर भी आचार्य शंकर भेद को स्वीकार करते हैं। सूत्रकार एक प्रकार से उपनिषद् के इस मंत्र का समर्थन कर रहे है, गुहा प्रविष्टों अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा व्याप्य और व्यापक रूप में हृदयरूपी गुफा में वास करते हैं।

९– उस ब्रह्म और जीवात्मा में विशेषण भेद होने से दोनों भिन्न-२ सत्तायें रखते हैं और दोनों में पर्याप्त अन्तर है।[1] इस सूत्र पर आचार्य शंकर भाष्य करते हुए उन उपनिषदों के बहुत से मंत्रों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हैं जो भेद का प्रतिपादन करते हैं। अतः इस सूत्र का भाष्य करते हुए अविद्याकृत भेद का प्रतिपादन करना भी विस्मृत कर गये हैं। यहाँ आचार्य ने अपनी लेखनी से भेद का प्रतिपादन करने में पर्याप्त उदारता प्रदर्शित की प्रतीत होती है।

इन उक्त सूत्रों पर आचार्य शंकर के भाष्य में भेद का प्रतिपादन करने से उनकी यह युक्ति कि यह भेद अविद्या कृत कहा है समीचीन प्रतीत नहीं होती क्योंकि उनके पास हेतु का अभाव है। मूल सूत्रों में इसका संकेत मात्र भी नहीं हैं। युक्ति प्रदर्शन द्वारा भी दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश में दोनों के अभेद का खण्डन तर्क की कसौटी पर करते हैं। उनकी युक्ति प्रदर्शन का सारांश इस प्रकार हैं–अद्वैतवादी आचार्य कहते हैं कि अविद्योपाधि से ब्रह्म जीव रूप में भासता है। अतः इस मत में ब्रह्म और माया दोनों हो हैं। दयानन्द कहते हैं कि यह माया क्या है? इनके मत में माया एक भ्रामक शक्ति है। जो अविद्या ब्रह्म को अनेक रूपों में अर्थात् ज्ञानी से अज्ञानी, सर्वज्ञ से अल्पज्ञ रागद्वेष युक्त और कामना रहित को कामना सहित कर देती है। इससे ब्रह्म में अज्ञानस्वतः सिद्ध हो जाता है, परन्तु अद्वैतवादी का यह ब्रह्म का रूपसादि न होकर

१. विशेषणाच्चविद्योद्य भाष्य – पृष्ठ १५।१।२।१२ ॥

अनादि है। यहां प्रश्न फिर उठता है कि जब ब्रह्म इस तरह अनादि काल से अज्ञान से युक्त है तो अज्ञान से मुक्त अब तक नहीं रहे होंगे। ऋषि अज्ञान के इस रूप पर आपत्ति उठाते हैं कि वो उसके एक देश में स्वाश्रय और स्वविषयक अज्ञान अनादि सदैव मानोगे तो सद ब्रह्म शुद्ध नही हो सकता और एक देश में अज्ञान मानेंगे तो सब ब्रह्म शुद्ध होने से इधर उधर आता जाता रहेगा, जहां जहां जायेगा वहां २ ब्रह्म अज्ञानी और बिग बिरा देश को छोड़ता जायेगा उस देश का ब्रह्म ज्ञानी होता रहेगा। तो किसी भी देश के ब्रह्म को अनादि ज्ञान युक्त न कह सकोगे।[1] इस पर अद्वैत वादी कहते हैं कि अज्ञान ब्रह्म के एक देश में रहता है इसलिए समस्त ब्रह्म अज्ञानी नहीं होगा। परन्तु दयानन्द उत्तर देते हैं कि एक ठिकाने पर अज्ञान व दुःख होने पर सब ब्रह्म को अज्ञानी व दुःखीं हो जाना चाहिये। इससे ब्रह्म का स्वरूप खण्डित हो जायेगा। आगे अद्वैतवादी मानते हैं कि जैसे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब सरोवर में पड़ता है परन्तु इससे चन्द्रमा के लाखों प्रतिबिम्ब पृथक् २ दृष्टि-गोचर होते है और जब पात्र नष्ट हो जाते हैं तो प्रतिबिम्ब भी स्वतः नष्ट हो जाते हैं। परन्तु इन सब का सूर्य पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है। इसी प्रकार ब्रह्म अनेकों जीवों के रूप में अविद्या के कारण प्रकट होते हैं। इससे उसकी स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इस पर दयानन्द फिर उत्तर देते हैं कि वह दृष्टान्त तुम्हारा व्यर्थ है। क्योंकि सूर्य आकार वाला और कुण्ड भी साकार है। सूर्य जलकुण्ड से भिन्न और सूर्य से जल कुण्ड भिन्न हैं। तभी प्रतिबिम्ब पड़ता है। तात्पर्य यह है कि आकारवान् पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब संभव है, निराकार का नहीं। इसके अतिरिक्त प्रतिबिम्बी

---

१. स० प्र० – समु० ७ पृष्ठ २१६ ॥

नोट—ऋषि दयानन्द ने सप्तम-अष्टम नवम और एकादश समु० में मायावाद का खण्डन किया है। यहां हम जीव और ब्रह्म के अभेद का खण्डन कर रहे हैं।

और जिस पर प्रतिबिम्ब पड़ता है।' वे दो पृथक् वस्तुयें होनी चाहिए। परन्तु अद्वैतवाद में ब्रह्म ही एक सत्ता है जो निराकार है। दयानन्द स्पष्ट करते हैं कि परमेश्वर के निराकार, सर्वत्र आकाशवत् व्यापक होने से ब्रह्म से कोई पदार्थ व पदार्थों से ब्रह्म पृथक् नहीं हो सकता और व्याप्य व्यापक सम्बन्ध से एक भी नहीं हो सकता जो एक हो तो व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्धो कभी नहीं घट सकता है।' यहां आपत्ति हो सकती है कि अन्तःकरणोपाधि से ब्रह्म को जीव मानना चाहिए। परन्तु इसका वे फिर उत्तर देते है कि तुम्हारी यह बात बालक के समान है। अन्तःकरण चलायमान खण्ड २ और ब्रह्म अचल और अखण्ड है। यदि तुम ब्रह्म और जीव को पृथक् पृथक् न मानोगे तो इसका उत्तर दीजिए कि वहां वहां अन्तःकरण चला जायेगा वहां २ ब्रह्म को अज्ञानी कर देवेगा या नहीं। जैसे यात्रा प्रकाश के बीच में जहां तहां से हटता है वहां २ के प्रकाश को आवरण युक्त और जहां जहां से हटता है वहां वहां के प्रकाश को आवरण रहित कर देता है वैसे ही अन्तःकरण ब्रह्म को क्षण क्षण ज्ञानी अज्ञानी बद्ध और मुक्त करता जायेगा।' इस प्रकार तो इनके मत में स्मृति की सत्ता भी नहीं रह जाएगी। यहां के ब्रह्म का देखा व सुना, उसका उससे अन्य देशस्थ ब्रह्म को स्मरण न होवेगा। और यदि यह उत्तर दिया जाय कि ब्रह्म तो एक है इससे स्मरण हो जायेगा इस पर वे पुनः उत्तार देते हैं इससे स्मरण हो जायेगा इस पर कि तब तो एक ठिकाने पर अज्ञान व दुःख होने से सब ब्रह्म को अज्ञान व दुःख भी हो जाना चाहिये।' परन्तु लोक में सर्वथा इसके विपरीत है। एक सुख और दुख का दूसरे को अनुभव नहीं होता। यदि अद्वैतवाद के इस अन्तःकरण

१. स० प्र० समु० ११ – पृष्ठ ३४३ ॥
२. वही – पृष्ठ ॥
३. स० प्र० – समु० ११ – पृष्ठ वही ॥
४. वही ॥

अवच्छेदवाद को माना जाय तब प्रश्न उठता है कि सुख और दुःख अन्तःकरण के होते हैं तद्स्थानी ब्रह्म के। अन्तःकरण तो जड़ है उसमें सुख दुःख का प्रश्न नहीं उठता। अब केवल ब्रह्म रह जाता हैं तब अर्थापत्ति से ब्रह्म ही दुःख सुखों का भोक्ता माना जायेगा इससे ब्रह्म के शुद्धत्व का बोध हो जाएगा। इसके अतिरिक्त आचार्य शंकर अविद्या को अनादि अनन्त एवं नैसर्गिक मानते हैं।[1] इसका स्पष्ट अर्थ है कि अविद्या अनादि काल से है और अनन्त तक रहेगी एवं स्वाभाविक है। तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह किसका स्वभाव है। यदि जीव का माना जाय तो जीव का अपना गुण होने से तिरोभाव का प्रश्न नहीं होना चाहिए। तब मुक्ति का उपदेश करने वाली श्रुतियां व्यर्थ हो जायेगी। यदि कहा जाय कि जीव का यह स्वभाव नहीं परन्तु पृथक् है तथा समष्टि रूप में स्वाभाविक है। व्यष्टि रूप में नष्ट होने वाली है इसलिए भाव को मुक्ति का आदेश है तब फिर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि अन्तःकरण अवच्छेद वाद में अन्तःकरण के अन्य स्थान पर चले जाने पर पूर्वस्थानी ब्रह्म की मुक्ति हो गई। इसप्रकार वह भी स्वयं सुसाध्य हो जायेगी। इस पर कहा जा सकता है कि मुक्ति से तात्पर्य उपाधि नाश से है, तब तो यह सब व्यर्थ ही प्रतीत होता है क्योंकि जिसको सुख दुःख हो उसी की मुक्ति का श्रुति वाक्यों में एक बुद्धि से निश्चय किया गया है। अन्तःकरण तो जड़ हो है इससे अन्तःकरण स्थित ब्रह्म जीव बनकर सुख दुःख का भोक्ता है। अतः सभी प्रकार से यह सिद्ध होता है कि यदि जीव और ब्रह्म में भेद न माना जाय तो ब्रह्म का ही अन्य और ब्रह्म की ही मुक्ति अद्वैतवाद के अनुसार सिद्ध होती है। जो उपनिषदों के विरुद्ध और तर्क से भी विरुद्ध है। परन्तु आचार्य शंकर का एक कुशल योद्धा की तरह अपनी पराजय मानने को तैयार नहीं है, वे उप-

---

१. एवमयमनादि रनन्तो नैसर्गिक अध्यासो मिथ्याप्रत्यरूप।
शां० भा० चतुसूत्रीसे ॥

निषदों में आने वाली अद्वैतपरक सी प्रतीत होने वाली श्रुतियों को अपना रक्षक बना लेते हैं और तर्क वहां उन के मत में असमर्थता प्रकट कर देता है वहाँ ये कह देते हैं कि श्रुति में द्वैत मानने पर अद्वैतपरक श्रुतियों का क्या होगा।[1] जैसा कि हम पूर्व भी संकेत कर आये हैं। डा० राधाकृष्णन्, आचार्य शंकर के इस बौद्धिक व्यायाम को इस प्रकार कहते हैं कि "बौद्धिक भ्रम का अति स्वच्छ एवं सुन्दर उदाहरण" हैं।

रामानुज–स्वीकृत जीव का स्वरूप––

विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव का स्वरूप शरीर से, इन्द्रियों से, मन से, बुद्धि से, व्यतिरिक्त, अजड़, आनन्दरूप, नित्य, अणुरूप, निरवयव, निर्विकार, ज्ञानाश्रय, ईश्वर के द्वारा नियामित, कार्य एवं शेष है।[2]

देह को आत्मा नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह मेरा शरीर और यह मैं (आत्मा) हूं–यह दोनों प्रतीत एक दूसरे से भिन्न हैं।[3] विशिष्टा–द्वैतियों का कथन है कि "यह मेरा शरीर है" यह मेरा सिर है, यह मेरा हाथ है। ऐसी चैतन्यगुणकसाध्य प्रतीतियां उन्हें उस चैतन्य-गुणक तत्व से व्यक्ति सिद्ध करती हैं। शरीर और उसके अवयवों को चैतन्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि विभिन्न शरीर में विद्यमान

---

१. सत्यद्वैत श्रुतिकृतोविशेषो न स्यात् सांख्यादि दर्शनाविशेषात्। माण्डू० पृष्ठ ३॥

२. आत्मस्वरूपं गत्वानगत्वोपरोपरम् इयुक्तप्रकारेण देहेन्द्रिय मनः प्राणबुद्धिभ्यो विलक्षणम्–अखण्डमानन्दरूपम् नित्यमस्व-व्यक्तमाचिन्त्यनिरवययं निर्विकार ज्ञानाश्रय ईश्वरस्य नियाम्यं कार्यं शेषम्–तत्वत्रय–चिद्धप्रकरण–पृष्ठ ५॥

३. देहादिना मम देहादिकमिति आत्मनः पृथकुपलभ्यमानत्वात्, इदमित्युपलभ्यमानत्वात् आत्मनो–अहमित्युपलम्भात्। पूर्वोक्तैव –पृष्ठ ७॥

चेतनों में जिसप्रकार कभी-कभी अभिप्रायभेद एवं विवाद उपस्थित होता है, उसीप्रकार शरीर में विद्यमान अवयवों के चेतन होने पर भी कभी-कभी इसमें अभिप्राय भेद तथा विवाद इत्यादि उपस्थित होना चाहिए। किन्तु वैसा नहीं होता, इसीप्रकार आत्मा को शरीर को व्याप्त नहीं करते, सुख दुःख की अनुभूति आत्मा-अविच्छिन्न मन के द्वारा ही होती है, शरीर के द्वारा नहीं इसलिए इसके अनुसार शरीर आत्मा नहीं है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार मन प्राण आदि भी आत्मा नहीं है, क्योंकि कर्त्तारूप आत्मा का मन करण है। श्रुति भी है कि मन से ही आत्मा को देखता है—"मनसा ह्येव पश्यति इसके अतिरिक्त मन अहंकारोत्पन्न है, अतएव उमें आत्मा नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार प्राणों को भी आत्मा नहीं कहा जा सकता क्योंकि वैसा मानने पर भी वही आपत्तियां आक्षिप्त होती हैं जो शरीर को आत्मा मानने में होती हैं।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार बुद्धि अर्थात् ज्ञान भी आत्मा नहीं है। परस्पर धर्म-धर्मी भाव के कारण ज्ञान और ज्ञाता एक नहीं हो सकते। अहंघटं जानामि आदि उक्तिया ज्ञान और ज्ञाता के द्वैत को सिद्ध करती हैं। ज्ञाता धर्मी होने से मूल है और ज्ञान तद्धर्म है। अतः ज्ञाता रूप आत्मा को ज्ञान नहीं माना जा सकता, दूसरे ज्ञान नश्वर है। आत्मा नश्वर नहीं है। अतः ज्ञानमात्र को आत्मा स्वीकार नहीं किया जा सकता।

बाह्येन्द्रियां भी आत्मा नहीं मानी जा सकतीं। विशिष्टाद्वैत के अनुसार उनमें संख्यात्मक आधिक्य है, जबकि आत्मा एक है। यदि आत्मा का भी संख्यात्मक आधिक्य स्वीकार किया जाय तो पुनः शरीर सन्दर्भवत् वहां भी सभी इन्द्रियों में विवाद होना चाहिए, जो कि नहीं हैं। तदतिरिक्त इन्द्रियों के अपने-अपने विषय निश्चित हैं। चक्षु, देख ही सकते हैं, सुन नहीं सकते। नासिका सूंघ सकती है, देख नहीं सकती जबकि आत्मा पांचों इन्द्रियों के

द्वारा गृहीत विषयों को अन्तर्सात् करने में सक्षम है।[1] इसके अतिरिक्त सुषुप्ति अथवा कैवल्य की व्यवस्था में जब इन्द्रियां अपने-२ विषयों से विरत हो जाती तो स्वप्नादि में आत्मा के द्वारा व्याघ्रादि का दर्शन भी उसकी वाह्येन्द्रियों से व्यतिरिक्तता को सिद्ध करता है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार आत्मा अजड़ है। वह ज्ञान के बिना भी स्वयं प्रकाशित होने की सामर्थ्य रखता है।[2] आत्मा स्वयं-प्रकाश है, अपने ज्ञान के लिए वह किसी अन्यतर साधन की अपेक्षा नहीं रखता, जिस प्रकार दीपक किसी अन्य दीपक की सहायता के बिना स्वयं ज्ञेय है, उसी प्रकार से आत्मा भी चैतन्यगुण होने के कारण स्वयं-प्रकाशवान् है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार आत्मा का स्वरूप आनन्दमय है, क्योंकि प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि सुषुप्तावस्था के अनन्तर मैं पूर्वक सोया की जैसी अनुभूतियां इस बात को पुष्ट करती हैं कि आत्मा आनन्द रूप है।[3] क्योंकि सुषुप्तावस्था में कोई भी बाह्येन्द्रिय अपने विषय में व्यापृत नहीं होती। अतएव विशिष्टाद्वैत के अनुसार निर्विषय आनन्दोपयोग उसकी प्रकृति ही है।

रामानुज के मतानुसार सार्वकालिक होने के कारण नित्य है। जन्ममरणादि की संज्ञा शरीर सम्बन्धाधार पर ही वाच्य है, उस के वास्तविक स्वरूप को ले कर नहीं। गीता भी कहती है कि न वह

---

१. तेषां बहुत्वात प्रतिनियतविषयत्वाच्च परस्परानुलार्थप्रतिसन्यानपरस्पर। विवाद – नियमाद्यनुपपत्तेः – न्यायसिद्ध – २ – पृष्ठ २३५॥

२. अजड़त्वं नाम ज्ञानेन बिना स्वयमेव प्रकाशमानत्वम्–तत्वत्रय–टीका – पृष्ठ १२॥

३. आनन्दारूपत्वं सुतस्वरूपमत्वम्, प्रबुद्धः "सुखमहमस्वापुसम्"– इति प्रतिदधातीति सुख रूपम् भवति – तत्वत्रय – पृ० १०॥

उत्पन्न होता है और न वह मरता है।[1] वह मर गया या उत्पन्न हुआ है ऐसा लोकव्यवहार आत्मा के वास्तविक जन्ममरण का कथन नहीं करता प्रत्युत उस के देह सम्बन्ध या वियोग का औपाधिक कथन है।

विशिष्टाद्वैती अपने उक्त कथन के समर्थन में सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः (छान्दोग्य ६-८-४), यतो वा इमानि-भूतानि जायन्ते (तै० ३-१-१) आदि श्रुतियों को भी उपस्थापित करते हैं।

विज्ञानात्मवादी बौद्ध आत्मा को क्षणिक मानते हैं, प्राणेन्द्रियात्मवादी शरीर पतन तक ही आत्मा की सत्ता स्वीकारते हैं। कुछ पौराणिक आत्मा को प्रलयान्त सार्वधिक मानते हैं। विशिष्टाद्वैत के अनुसार यह सभी मत असंगत एवं सारहीन हैं। उनके अनुसार यदि जीवात्मा को क्षणिक माना जाता है तो जप-तप चिन्तनादि से मानव की प्रकृति का कोई तात्पर्य ही नहीं रह जाता। क्योंकि प्रवृत्ति तो उत्तरकालिक दुःखों से निवृत्ति और सुखोपलब्धि की आशा से होती है।[2] यदि शरीरपातान्त आत्मा को माना जाता है तो पारलौकिक फला सन्धायक यज्ञादि में भी प्रवृति न हो, जबकि हम लोक में स्पष्टतः ईदृशी प्रवृत्ति देखते हैं। इसीप्रकार प्रलयान्त आत्मा को सत्ता स्वीकार करने से मोक्ष हेतु प्रयत्न एवं साधनों का कोई महत्व नहीं रह जाता क्योंकि प्रलय होने पर जब आत्मसत्ता समाप्त हो ही जायेगी तो फिर व्यर्थ में जप-तप प्रभृत्ति का कष्ट क्यों उठाया जायेगा।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार आत्मा का स्वरूप अव्यक्त है, क्योंकि उसका घट-पटादि पदार्थों की भांति नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा दर्शन अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। केवल मानस-ज्ञान के द्वारा ही

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता – २ – १८॥
२. कृतनाशः अकृताम्युपगमश्च।

उसका प्रत्यक्ष संभव है।[1]

रामानुज के मत में आत्मा को अचिन्त्य एवं निरवयव माना गया है। अचित्पदार्थवत् अवयवों का समुदाय न होने के कारण आत्मा विज्ञानमय ज्ञानैकाकार निरवयव है उसमें किसी प्रकार का विकार व्याप्त नहीं होता, वह न तो शस्त्र के द्वारा छेद्य है, न अग्नि द्वारा दाह्य है. न जल के द्वारा क्लेद्य है और न वायु और ताप के द्वारा ही शोष्य है।[2] अपने मूलभूत रूप में प्रकृति के किसी भी विकार द्वारा आत्मा विकृत नहीं होता। इसलिए उसे निर्विकार भी कहा गया है।

रामानुज ने आत्मा को अणु परिमाण वाला माना है। शंकराचार्य आत्मा को विभु मानते हैं। अपने मत की पुष्टि में विशिष्टाद्वैती – एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः[3] 'वालाग्रशतभागस्य'[4] आदि श्रुतियों को प्रस्तुत करते हैं। इन श्रुतियों का यह अर्थ है कि यह आत्मा अणु है, मन से जानने योग्य है, जीवात्मा चर्मकारसुची के अग्रभाग के समान छोटा देखा गया है। बाल के अग्रभाग को सौ भागों में विभाजित करके उसमें से भी एक भाग को पुनः सौ भागों में विभक्त करने पर जितना छोटा उसका एक भाग होता है, उतना ही छोटा जीवात्मा है। रामानुज जीवात्मा के अणु होने का दूसरा प्रमाण यह भी देते हैं कि स्वयं प्रकाश होने वाला जीवात्मा हृदय प्रदेश में ही 'अहमहम्' ऐसा प्रतीत होता है। जीवात्मा विभु हो तो स्वयंप्रकाश जीवात्मा की सर्वत्र 'अहमहम्' प्रतीति होनी चाहिए, किन्तु वैसी प्रतीति नहीं

---

१. अतो मानसज्ञानमात्रगम्यं नत्वेन्द्रियक ज्ञानगम्यमितिभावः– तत्वत्रयटीका–पृष्ट १२ ॥

२. एवंस्थितत्वाच्छस्त्राग्निजलवायातप्रभृति मिच्छेदनदहनक्लेदनशोषणादिनामयोग्यम् तत्वत्रय–पृष्ठ १५–गीता २–२३ ॥

३. श्वेताश्वेतर उपनिषद्–५–८ ॥

४. पूर्वोक्तैव–५–६ ॥

होती। हृदय प्रदेश में हो जो 'अहमहम्' ऐसी प्रतीति होती है। उसके स्वारस्य से हो फलित होता है कि जीवात्मा हृदय में ही रहता है अन्यत्र नहीं।[1]

प्रश्न यह उठता है कि यदि आत्मा हृदयदेश में ही निवास करता है तो सम्पूर्ण शरीर में सुख दुःख की अनुभूति किस प्रकार करता है।

विशिष्टाद्वैती इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में बताते हैं कि जिस प्रकार से शरीर के किसी एक स्थल पर चर्चित चन्दन सम्पूर्ण शरीर में शैत्य–संवेदना प्रसारित करता है,[2] अथवा जिसप्रकार किसी कक्ष के एक देश में अवस्थित मणिद्वीपों की प्रभा सम्पूर्ण कक्ष को व्याप्त करती है, इसी प्रकार चैतन्य का धर्मभूतज्ञान आपूर्ण शरीर के द्वारा सुख दुख अनुभूतियों को ग्रहण करने में सक्षम रहता है।[3] इतना ही नहीं, सौभरिवादी योग्यात्माएं एक ही समय में अपने धर्मभूत-ज्ञानप्रभा के परिस्फुरण द्वारा अनेक शरीरों को अधिष्ठान बना लेते हैं।[4]

आत्मा को यदि विभु माना जाय तो उसकी श्रुति–उक्त उत्क्रमण, आगमन, गमन प्रभृति संसरणात्मक क्रियाएं उपपन्न नहीं होती।

रामानुज जीवों के नानात्व को स्वीकार करते हैं। "नानात्म-

---

१. न्याय सिद्धान्त हिन्दी टीका–पृष्ठ २७२–७३॥

२. यथाहि हरिचन्दनविन्दुहैकदेशवत्यपिसकल देहेव्यापितमाह्लादं जनयति–विशिष्टाद्वैताधिकरणमाला – पृष्ठ ६० ॥

३. यथा प्रदीपस्यैकस्येकस्मिन् देशे वर्तमानस्य स्वप्रभया देशान्तरावेशः तथा आत्मनो अप्येकदेहस्थितस्यैव स्वप्रभारूपेण चैतन्येन सर्वशरीरावेशो नानुपपन्नः – श्रीभाष्य ॥

४. हृत्प्रदेशस्थितस्यैव जीवस्य ज्ञानद्वारा नानाधिष्ठानोपपत्तिः – न्यायसिद्धा० २७७ ॥

५. बृहदारण्यकोपनिषद् ४ – ४ – २ एवं कोष १–२ ॥

नोव्यवस्थातः" एवं "जन्ममरणकरणानाम्" इत्यादि के द्वारा क्रमशः न्याय और सांख्य दर्शन भी जीव के नानात्व को मानते हैं। कदाचित् विशिष्टाद्वैतानुयायियों ने विकीर्ण रूप से उन्हीं जीव के नानात्व की समर्थक उक्तियों को प्रस्तुत किया है, जिन्हें सांख्य आदि दर्शन करते है। लोकाचार्य ने जीव के बहुत्व का प्रमाण देते हुए कहा है कि उस के बहुत्व के कारण ही कोई संसरण करता है, और कोई शरीर का त्याग करता है।[1] यदि सभी जीव एक हों तो यह व्यवस्था, जो कि हम प्रत्यक्ष देखते हैं, नहीं बन सकती। दूसरे यदि जीव एक हों तो एक के सुखी होने पर सभी सुखी होने चाहिए। एवं एक के सुखी होने पर सभी को उस सुःख की अनुभूति होनी चाहिए, जबकि ऐसा नहीं होता।[2] संसार में यह भी देखा जाता है कि इन्द्रियों की भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति हैं, कोई पढ़ा रहा होता है तो कोई पढ़ रहा होता है। सभी जीवों का एकत्व स्वीकार करने पर ऐसी व्यवस्था भी नहीं बनती।[3]

किन्तु यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि रामानुज के मत में जीवों का यह नानात्व उन को गणनात्मक रूप से ही दृष्टिपथ में रख कर ही है। गुणात्मक रूप से संज्ञानेकाकार होने से समस्त जीव आत्मा समान हैं।

रामानुज के अनुसार आत्मा चिद्रूप चैतन्य-गुणक है। स्वयं प्रकाशता चैतन्य का स्वभाव होता है।[4] अर्थात् वह अपने प्रकाशन के लिए किसी अन्येतर पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता। वह स्वप्रकाशन एवं प्रकाश से अन्य पदार्थ अन्यपदार्थोद्भासन् ही ज्ञान है, वह

---

१. कश्चित्संसरति कश्चिन्मुच्यते – तत्वत्रय – पृष्ठ ३२ ॥

२. कस्यचित्सुखित्काले अन्यस्य कस्यचिद् दुःखित्वे न स्यात्। पृष्ठ ३१ ॥ पूर्वोक्तैव

३. कश्चिच्छिष्य कश्चिदाचार्य इति न स्यात् – पृष्ठ ३२ ॥

४. एवमात्माचिद्रूप एव चैतन्यगुणकः। चैतन्यस्वभावता हि स्वयंप्रकाशता – श्रीभाष्य १-१-१ पृष्ठ १५३ ॥

ज्ञान आत्मा में रहता है, अर्थात् आत्मा ज्ञान का आश्रय है। अतः ज्ञान का आश्रय होने से आत्मा ज्ञानाधार कहा जाता है। रामानुज कहते हैं कि जैसे मणि आदि अपनी प्रभा के आश्रय होते हैं, उसी प्रकार से आत्मा भी अपने धर्मभूत ज्ञान का आश्रय है।[1] जिस प्रकार मणिप्रभा स्वयं को प्रकाशित करने के साथ-साथ अपने आश्रय भूत मणि को भी उद्भासित करती है उसी प्रकार ज्ञान स्वप्रकाशन के साथ-साथ आत्मा को भी उद्भासित करता है। इसी कारण ज्ञान को आत्मा का सारभूत गुण कहा जाता है।[2]

जिस प्रकार मणिप्रभा दीप का गुण भी है; और रूप-रूपेण द्रव्य भी है, उसी प्रकार रामानुज के अनुसार ज्ञान गुण के साथ-साथ द्रव्य भी है। वह आत्मा के साथ-साथ अपृथक् सिद्धान्त से रहता है। आत्मा को ज्ञानमात्र नहीं माना जा सकता। रामानुज कहते हैं कि वह ज्ञाता भी है, क्योंकि वह धर्मभूत ज्ञान नहीं माना जा सकता। रामानुज कहते हैं कि वह ज्ञाता भी है, क्योंकि वह धर्मपूत ज्ञान का आश्रय है और ज्ञान भी स्वयं में आपेक्षिक गुण है। हमारी प्रतिदिन की अनुभूतियां कि मैं घट को जानता हूँ आदि इस बात की द्योतक है कि वह अर्थात् आत्मा ज्ञाता है। श्रुतियां भी उसे ज्ञाता बताती हैं।[3] ज्ञान स्वयं प्रकाश और विभु है और वह आत्मा में अपरिच्छिन्न भाव से रहता है। शरीर धारण करने की अवस्था में कर्मों के द्वारा उस का संकुचित स्वरूप होता है। तथा मोक्ष की अवस्था में वह उन्मुक्त अथवा विकास को प्राप्त हो जाता है। ऐसा जीवात्माओं के धर्मभूत ज्ञान के विषय में रामानुज का

---

१. अस्यज्ञानस्वरूपस्येव मणिप्रभृतीनां प्रभाश्रयत्विमिव ज्ञानाश्रयत्वमप्यविरुद्धमित्युक्तम् – श्रीभाष्य – १ – १ – पृष्ठ १६० ॥

२. विज्ञानमेव अस्य सारभूतोगुण: – श्रीभाष्य – ३ – २६ ॥

३. (क) अथ यो वेदेदं विप्राणीति स आत्मा ॥
(ख) तथा विज्ञातापरे केन विजानीयात् ।
(ग) जानात्येवायं पुरुषः ॥

मत है। रामानुजीय दर्शन में ज्ञान का अत्यन्त महत्व है। जीवात्मा के समस्त भावों को एवं क्रियाकलापों को इस धर्मभूत ज्ञान के प्रति ही समर्पित कर दिया गया है।

रामानुज जीव को कर्त्ता एवं भोक्ता मानते हैं। प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि विज्ञान-आत्मापुरुष की अर्थात् विज्ञानोपेत आत्मा ही कर्त्ता है।[1] इस के अतिरिक्त 'यजेत् स्वर्गकामो' तथा 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत्' आदि श्रुतियों द्वारा प्रवृत्तिमूलक उपदेश भी किसी सचेतन को ही लक्ष्य कर के कहे गये हैं — न कि किसी अचेतन के प्रति, किन्तु यह कर्तृत्व आत्मा का नित्य धर्म नहीं है। प्रत्युत शरीरों के साथ संसरण से गुणों के संसर्ग से आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व धर्म समाविष्ट हो जाते हैं।[2] दूसरे ज्ञातृत्व व्यवस्था की हेयोपादान-प्रज्ञाजनित—इच्छा के कारण ज्ञान अवस्था-विशेष ही है। विशिष्टाद्वैत सांख्यदर्शन के उस सिद्धान्त को नहीं स्वीकार करता जिस में प्रकृति को ही अवान्तर रूप से कर्त्ता माना गया है। ऐसा मानने पर तो शास्त्रों के विधि-निषेध रूप उपदेश ही व्यर्थ हो जाते हैं। क्योंकि कर्म का फल प्रकृति रूप जड़ पदार्थ नहीं भोग सकता और फिर यदि प्रकृति को कर्त्ता स्वीकार किया जाता है तो चेतन को लक्ष्य कर के यह विधि-निषेध रूप उपदेश क्यों कहे जाते। विशिष्टाद्वैतियों के अनुसार शास्त्र, शासन अर्थात् बोधजनन द्वारा किसी कार्य के प्रति प्रेरित करने के कारण ही कहे जाते हैं। प्रकृति में बोधोत्पादन संभव नहीं है, क्योंकि वह जड़ है। इस लिए आत्मा ही कर्त्ता है।[3]

भोक्तृत्व भी जीव का धर्म है क्योंकि यदि कर्म करता है तो उन कर्मों का फल भी उसी को भोगना चाहिये। इसीलिए माना

१— प्रश्नोपनिषद् — ४-९ ॥

२. आत्मैव कर्त्ता — श्रीभाष्य — २-३-३७ ॥

३. सांसारिक प्रवृत्तिका कर्तृत्व न स्वरूपप्रयुक्तमपितु गुणसंसर्गकृतम् — तत्वत्रय — पृष्ठ १९—२० ॥

जाता है कि भोक्तृत्व कर्तृत्वापेक्षी है। यदि जीवात्मा का कर्तृत्व समाप्त हो जाता है तो भोक्तृत्व भी प्रारब्ध की विनष्टि पर समाप्त हो जाता है। यद्यपि जीव अणु है। किन्तु अणु होते हुए भी विकास और संकोचशील धर्मभूत ज्ञान से सम्पन्न होने के कारण शरीर के सुख-दुःख का भोक्ता बनता है। रामानुज कहते हैं कि जिस प्रकार दीपक की ज्वाला लघु होते हुए भी अपने प्रकाश के द्वारा अनेक पदार्थों को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार अणु जीव भी सुख-दुःख का भोक्ता बन सकता है। दीपक के विस्तार और संकोचशील प्रकाश के समान जीव का धर्मभूत ज्ञान भी विस्तार और संकोच से सम्पन्न हैं। रामानुज के अनुसार जीव अपने कर्तृत्व के क्षेत्र में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं है।

विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार सम्पूर्ण क्रियाओं का कर्त्ता यद्यपि जीव ही है। किन्तु जीव की तत्तत्द् इच्छाओं की क्रियात्मक अभिव्यक्ति ईश्वर के द्वारा अनुमोदित जीव ब्रह्म का शेष है और ब्रह्म उस का शेषी।

रामानुज ने इस शेष-शेषी सम्बन्ध की विभिन्न रूपों से व्याख्या की है। कभी उसे अंशांशी भाव, कभी आधाराधेय, कभी विशेषण-विशेष्य-भाव, कभी शरीर-शरीरी और कभी प्रकार प्रकारी नामों से अभिहित किया गया है।

रामानुज के अनुसार जीव ब्रह्म का प्रकार होने से सत्य अद्वितीय अनन्त, ज्ञान-शक्ति सम्पन्न, चैतन्य स्वरूप, अवयव रहित, अविकार्य व अपरिवर्तनीय, अगोचर एवं अनुरूप है।[1] जीव को ब्रह्म का विशेषण और प्रकार होने के कारण ही ब्रह्मांश कहा गया है। "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादास्यामृतं दिवि" तथा "ममैवांशो जीवलोके जीवभुतः सनातनः" आदि श्रुतियों को इसी की पुष्टि के लिए प्रस्तुत किया गया गया है। अंशांशी भाव सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए आचार्य रामानुज ने कहा है कि जीव परमात्मा का

१. श्रीभाष्य – २-२-१९-३२, २-३-१८ ॥

उसी प्रकार से अंश है, जिस प्रकार किसी भासमान पिण्ड (सूर्यादि) से निसृत प्रकाश, अग्नि या आतप आदि उस पिण्ड के अंश हैं, अथवा गाय या घोड़े के जातिगत लक्षण और सफेद या काला रंग रंगीन वस्तुओं का गुण हैं। उन के अन्दर रहने से उन तत्तत्पदार्थों के अंश हैं अथवा शरीर जिस प्रकार से एक शरीरधारी का अंश है।[1] रामानुज अंशत्व के अभिप्राय को सुतराम् स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "किसी एक वस्तु का एक देशत्व ही उस का अंशत्व है। एक विशिष्ट पदार्थ का विशेषण उस का अंश होता है।

अंशांशी भाव होने पर भी जीव और परमात्मा में (विशेषण विशेष्य रूप होने पर भी) स्वाभाविक वैलक्षण्य मिलता है।

जीव के भेद

विशिष्टाद्वैत में जीवात्मा को तीन प्रकार का बताया गया है[2]– १– बद्ध (२) मुक्ति तथा (३) नित्य। होने पर ही संभव है।[3] यद्यपि ईश्वर का यह अनुमोदन जीव के इच्छा के अनुसार होता है, कोई जीव यदि बुरा कर्म करना चाहता है, तो भी ईश्वर उसको उसी दिशा में अनुमति प्रदान कर देता है, तथापि वह कर्मक्षेत्र में स्वतंत्र नहीं है। श्रुति भी कहती है कि—य आत्मनि तिष्ठान्नात्मनो अन्तरों ययात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं म आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा–अन्तर्याम्यमृतः (बृहदराण्यकोप०) विशिष्टाद्वैत के

---

१. प्रकाशादिवत् जीवः परमात्मनोश, तथा अग्न्यादित्यादेर्मास्वतो भारूपः प्रकाशः अंशो भवति, यथा गवाश्वशुक्लकृष्णादीनां गोत्वादीनि विशेषणान्यशाः यथा वा देहिनो देवमनुष्यादे देहांशः। तद्वत – श्रीभाष्य – २–३–४५ ॥

२. तत्वत्रैय–पृष्ठ २६ ॥

३. सर्वासु क्रियाषु पुरुषेण कृतं प्रयत्नम्–उद्योगमपेक्ष्यान्तर्यामी-परमात्मा तदनुभाति दानेन प्रवहयति परमात्ममकुन्तरेणास्य प्रवृत्तिर्नोपद्यते इत्यर्थः। श्रीभाष्य २–३–४१ ॥

अनुसार ईश्वर के इस नियामक रूप के कारण ही जीवात्मा को नियाम्य कहा जाता है, जिस प्रकार किसी व्यक्ति के बाह्य कार्य शरीर के द्वारा किए जाते हैं, किन्तु उन कार्यों का नियमन बुद्धि करती है, उसी प्रकार जीव के द्वारा किए जाते हुए कार्यों का नियमन उसका आत्मस्थ परमात्मा करता है।

इसी प्रकार परमात्मा कर्मफल प्रदान करने के द्वारा उसके कर्मों का सा सुख दुःख का एवं शरीरान्तरागमन का नियमन करता है। ईश्वर का यह नियमन जीव के द्वारा भूतकाल में किए प्रारब्ध रूप कर्मजनित अदृष्ट के आधार पर होता है। यद्यपि क्रियमाण कर्मों का जीव स्वामी है, किन्तु उन्हीं के भावी फलों का वह दास भी है।

रामानुज ने जीव का ब्रह्म के साथ अंशांशी भाव एवं शरीरात्मभाव स्वीकार किया है जिस प्रकार जीव अपने स्वरूपसंकल्पादि का धारक होता है. उसी प्रकार ब्रह्म भी जीव का धारक है और जीव उसका धार्य है।

रामानुज मत में जीव को शेष और परमात्मा उसका शेषी कहा गया है। शेष का सामान्य अर्थ है—जो किसी अन्य की अपेक्षा रखता हो। जीव को इसलिए शेष कहा गया है कि उसका आधार, नियन्ता एवं नियोक्ता ईश्वर है। यथार्थतः जीव अपने में स्वतंत्र नहीं है।[1] जिस प्रकार किसी व्यक्ति के द्वारा सुरक्षित गृह, भूमि, पत्नी आदि उसकी सम्पत्ति के रूप में उसके शासन काल में रहते हुए उसके शेष हैं उसीप्रकार जीव भी भगवदाश्रित होने के कारण उसका शेष हैं। परमात्मा व्यतिरिक्त जीव की सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती।

---

१. पृथक् सिद्धयनहंधारणवेयभावोनियन्तुनियाम्यः भावः शेष-शेषि भाव इति, यस्य चैतनस्य यद्द्रव्यं सर्वात्मना स्वार्थे नियन्तुं भारयितुं च शक्यं तच्छषतेक स्वरूपम्।

तत्त्वत्रय टीका – पृष्ठ २६ ॥

अद्वैत के जीववाद का रामानुज द्वारा खण्डन—

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" 'एको देवो बहुधा निविष्टः" आदि श्रुतियों के आधार पर अद्वैतवादियों का मत है कि स्वयं ब्रह्म ही अज्ञानावृद्धि होकर जीव रूप में भासता है, अर्थात् जीव अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म ही है। अविद्या की निवृति होने पर जीव अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है। अद्वैतवादी जीव ब्रह्मैक्य वाद समर्थन में – अनेन जीवात्मना अनुप्रविष्य इत्यादि श्रुतियों की भी प्रस्तुत करते हैं। जिनमें कहा गया है कि वह परमात्मा इन शरीरों की रचना करके पीछे से स्वयं ही इनमें प्रविष्ट हो गया। अतः परमात्मा और जीवात्मा का भेद काल्पनिक है, वास्तविक नहीं।

रामानुज जीव-ब्रह्म-एक्य-वादी अद्वैतवादियों के उक्त मत को स्वीकार नहीं करते प्रत्युत उसका खण्डन करते हैं। रामानुज प्रश्न करते हैं कि यह भेदक कल्पना किसमें है? ब्रह्म में या जीव में? ब्रह्म में तो हो नहीं सकती क्योंकि वह विशुद्ध ज्ञान मय है इसलिए वह कल्पनातीत है।[1] और जीव में भी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रथम तो जीव स्वयं में आपके अनुसार ब्रह्म है, दूसरे उसके द्वारा भेद कल्पना और भेद कल्पना के द्वारा वह अर्थात् जीव होने के कारण अन्योन्याश्रय दोष होता है।[2]

अद्वैतवादी कहते हैं कि अविद्या अवास्तविक है, वस्तुतः जीव ब्रह्म ही है, इसलिए वह स्वभाव से विशुद्ध है। दर्पणादि में प्रति-विम्बित मुख में जैसे मालिन्य आदि दोष दिखायी देते है, उसी प्रकार अन्तःकरणादिवच्छिन्न ब्रह्मरूप जीवगत दोष भी भ्रान्तिमात्र ही हैं। रामानुज इस अवधारणा पर विप्रतिपत्ति करते हुए प्रश्न करते हैं कि उपाधि-गत मालिन्य में या अल्पज्ञत्वादि दोष कब नष्ट

---

१ न तावदब्रह्मणः तस्य विशुद्धज्ञानानात्मनः कल्पनाशून्यत्वात्– श्रीभाष्य–२–१५ ॥

२. नापि जीवानाम् इतरेतराश्रय श्रयप्रसंगात् – पूर्वोक्तैव ॥

होते हैं ? यदि यह कहा जाय कि दर्पणादि उपाधि भेदों के साथ ही नष्ट हो जाते हैं तो प्रश्न पुनः उठता है कि अल्पज्ञत्वादि का आश्रय प्रतिबिम्ब रहता है या नहीं ? यदि नहीं रहता है तो उसका जीव भी रहता है, अर्थात् उसका मोक्ष नहीं होता।[1] यदि यह माना जाये कि वह प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है तो उसी प्रकार जीव भी विनष्ट हो जायेगा। इस प्रकार स्वरूपोच्छेद मोक्ष ही होगा।[2]

यदि यह कहा जाये कि अविद्यारूप उपाधि से दोषों की प्रतीति होती है, उनका उच्छेद होने से ही मोक्ष रूप पुरुषार्थसिद्धि हो जाती है तो प्रश्न उठता है कि यह औपाधि दोष – प्रतीति बिम्ब स्थानीय ब्रह्म की है या प्रतिबिम्ब स्थानीय जीव की या अन्य किसी की। यदि प्रतिबिम्ब जीव की है तो यह दृष्टान्त अयुक्त है, क्योंकि मुख और उसका प्रतिबिम्ब दोनों ही अचेतन है। अतः इन दोनों में अल्पज्ञतादि दोष की प्रतीति असंभव है। और यदि बिम्ब स्थानीय ब्रह्म में दोष प्रतीति स्वीकार की जाये तो ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय बन जायेगा।[3] तस्मात् उसका शुद्ध विज्ञानत्व समाप्त हो जायेगा। अन्य कोई द्रष्टा न होने से ऐसा प्रतीति कोई भी नहीं कर सकता।

अविद्याकल्पित जीव के जीवभाव के कल्पक का प्रश्न उठाते हुए रामानुज कहते हैं कि यदि जीवात्मा की कल्पना का कर्त्ता अविद्या को मानते हो तो वह अनुचित है, क्योंकि अविद्या अचेतन है, वह जीवभाव की कल्पना नहीं कर सकती। उसी प्रकार जीव स्वयं अपनी कल्पना नहीं कर सकता। क्योंकि यदि ऐसा माना

---

१. तिष्ठतीतिचेत् – तत्स्थानीयस्य जीवस्यापि स्थितत्वाद् निर्मोक्ष-प्रसंग पूर्वोक्तैव ॥

२. नश्यतीति चेत् – तद्वदेव जीवनासात् स्वरूपोच्छेदलक्षणोमोक्षः स्यात् पूर्वोक्तैव ॥

३. ब्रह्मणो दोषप्रतिभासे ब्रह्माविद्याप्रसंगश्च – पूर्वोक्तैव ॥

जायेगा तो आत्माश्रय दोष होगा। और यदि ब्रह्म के द्वारा जीव-भाव कल्पित माना जायेगा तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि ब्रह्म में अज्ञान है।[1]

किन्तु अद्वैतवादी ब्रह्म में अज्ञान की स्थिति स्वीकार करने के लिये कथमपि तत्पर नहीं हैं। इस पर रामानुज पुनः आक्षेप करते हुए पूछते हैं कि यदि आप ब्रह्म में अज्ञान की स्थिति नहीं मानते तो यह बताइये कि ब्रह्म जीवों को देखता है या नहीं ? नहीं देखता है यदि ऐसा कहा जायेगा तो वह सृष्टि का अकर्त्ता सिद्ध होगा।[2] और यदि यह कहा जाये कि देखता है तो अखण्डैकरस ब्रह्म द्वारा अविद्यारहित मुक्त जीव का दर्शन संभव नहीं होगा। क्योंकि उस को देखने के लिए ब्रह्म में अज्ञान की स्थिति आवश्यक रूप से होगी, और इस प्रकार माया और अविद्या का भेदवाद भी असिद्ध हो जायेगा।[3]

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि द्वैतवादी ब्रह्म के प्रतिबिम्ब का जीवों में सुखित्व-दुखित्वादि धर्म हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सुख के प्रतिबिम्ब में छोटापन, बड़ापन स्वच्छता, मलीन आदि मणिकृपादिवसात् प्रतीत होती है।

इस पर रामानुज कहते हैं कि निराकार ब्रह्म का प्रतिबिम्ब असंभव है।[4]

आचार्य रामानुज जीवब्रह्म-एक्यवाद के खण्डन हेतु अश्मादि का दृष्टान्त भी देते है। जिस प्रकार पत्थर काष्ठ, लोहा या तृणादि जो अत्यन्त तुच्छ पदार्थ हैं। और सदैव विकारी, जड़ विशेष, उनका निर्दूषण, निर्विकार, आनन्द स्वरूप, सब वस्तुओं से विलक्षण ज्ञान-

---

१. ब्रह्मैव कल्पकमिति चेत – ब्रह्माज्ञानेवायातम् – पूर्वोक्तैव ॥
२. न पश्यति चेत् – ईक्षापूर्विका विचित्रसृष्टिर्नामरूप व्याकरण-मित्यादि ब्रह्मणो न स्यात् – पूर्वोक्तैव ॥
३. अतएव मायाविया वा विभागवादोषपि निरस्तः न पूर्वोक्तैव ॥
४. प्रतिभातिशून्यत्वात् – पूर्वोक्तैव ।

स्वरूप, नानाविध महाविभूति वाले ब्रह्म के साथ अभेद नहीं हो सकता, उसी प्रकार अत्यन्त दुःखों वाला खद्योत के समान जो जीव है, उस का निस्सीम, कल्याणगुणाकार ब्रह्म के साथ अभेद नहीं हो सकता।'

रामानुज के अनुसार जीव ब्रह्मैक्य अविद्यामय और अविद्या-निवृत्ति के द्वारा कथमपि संभव नहीं है क्योंकि दोनों का भेद निराकरण में ब्रह्म में किसी न किसी प्रकार अज्ञानरूप दोष का अपरिहार्य आक्षेप करता है। जीवब्रह्म भी अलग-अलग प्रतीति की मूलभूता हेतु अविद्या की भी किसी प्रकार उपपत्ति नहीं होती। न तो ब्रह्म को अखण्डेकरस शुद्ध विज्ञान स्वरूप होने के कारण, अविद्या का आश्रय स्वीकारा जा सकता है और न हो स्वयं में अविद्या के कारण जीवत्व-भाव प्राप्त जीव को ही अविद्या का आश्रय स्वीकार किया जा सकता है, यदि अविद्या को स्वतन्त्ररूपेण इतरतत्व स्वीकारा जाता है तो अद्वैतवादियों का ब्रह्मैक्यत्तत्वाद ही समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार अविद्या के ही उपपन्न न होने के कारण तत्कार्ययुत ब्रह्मैवजीव भी सिद्ध नहीं होता।

अद्वैतवाद में पुनः ब्रह्म को जीव मान कर जीवैक्यवाद भी माना गया है। इस अवधारणा के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सब शरीरों में अन्तःकरणावच्छिन्न हो कर विचरण कर रहा है। तस्माद् सभी जीव एक हो हैं, अर्थात् न उस में गणनात्मक विभेदकता है और न गुणात्मक विभेदता है और न गुणात्मक विभेदता ही।

रामानुज अद्वैतवाद की उक्त अवधारणा का भी खण्डन करते हैं, रामानुज का तर्क है कि यदि समस्त शरीरों में एक ही जीव विचरण कर रहा है तो – 'पादे में वेदना' या 'शिरसि मे सुखम्'– आदि सुख-दुःख की अनुभूतियों का प्रत्येक शरीरधारियों को पृथक् २

---

२. चेतनस्यप्यन्तदुःखयोगाहस्य कल्पस्यापहतपापमेत्यादि वाक्या-वगतसकलहेयप्रत्यनीकानवधिकातिश.संख्येकल्याणगुणाकार ब्र-ह्मावाअनुपपत्ति-श्रीभाष्य – १-१-२३ ॥

अनुभव क्यों होता है। यदि एक ही ब्रह्मरूप जीव सब शरीरों में है तो एक की पीड़ा की अनुभूति सभी अन्य शरीरों में विद्यमान जीवों को होनी चाहिए।[1] इसी प्रकार एक के प्रसन्न या सुखी होने पर सभी जीवों में प्रसन्नता या सुख का आवेग परिलक्षित होना चाहिये। किन्तु जगत् में इस प्रकार की उपलब्धि नहीं होती।

इसी प्रकार, यदि समस्त शरीरों में एक ही ब्रह्मरूप जीव है तो रामानुज के अनुसार, उसे भिन्न भिन्न जन्मा, मुक्त, शिष्य, आचार्य, ज्ञानी, अज्ञानी क्यों माना जाता है? कहने का अभिप्राय यह है कि यदि जीव एक ही हैं तो एक ज्ञानी अन्य अज्ञानी शिष्य दूसरा आचार्य या एक बद्ध और एक मुक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि ऐसा किसी भो प्रकार से स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि अखण्डैकरस रूप ब्रह्म के अखण्डैक रसता निरर्थक होगी। यदि एक जीव के ज्ञान से समस्त जीवों की मुक्ति नहीं नानात्व स्वीकार करना ही होगा।

शंकर के मत में जीवात्मा और व्यावहारिकरूपेण अणु हो कर भी परमार्थ में विभु ही है किन्तु रामानुज का कथन है कि यदि जीवात्मा विभु है अर्थात् एक ही जीव सर्वत्र उपलब्ध है तो उस की उत्क्रमणादि गतियां संभव नहीं हो सकतीं।[2]

अद्वैतवादी आत्मा को ज्ञानस्वरूप मात्र मानते हैं, वे आत्मा को ज्ञाता नहीं मानते। उनके अनुसार ज्ञान और ज्ञाता एक पदार्थ नहीं हो सकते, क्योंकि धर्मधर्मी भाव से उनमें द्वैत अर्थात् 'भेद' प्रमाणित होता है। इनके अनुसार 'अहंजानामि' आदि के अहम् अर्थात्, ज्ञातृत्व, एवं भोक्तृत्व अध्यासजन्य होने से मिथ्या हैं हैं। पारमार्थिक नहीं। यह सभी गुण औपाधिक हैं, वास्तविक अर्थ में आत्मा निर्लेप और निस्संग है, यह विशुद्ध चित्स्वरूप-मात्र है।

---

१. सर्व शरीरेषु सुखदुख-प्रतिसन्धानम् स्यात्– पूर्वोक्तेव २-१-१५॥
२. विभुत्वे ह्यता उत्क्रान्त्यावयो नोपपद्येरन्–श्रीभाष्य–२–३–२०।

रामानुज अद्वैतवेदान्त के पूर्वोक्त सिद्धान्तों का भी खण्डन करते हैं। रामानुज के अनुसार अहमर्थत्व औपाधिक या मिथ्या नहीं है। सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में भी अहमर्थत्व से निवृत्ति नहीं होती। जहां तक ज्ञान का प्रश्न है, आत्मा अपने में ज्ञान स्वरूप या चिद्रूप है, किन्तु वह ज्ञानगुण वाला भी है। इसमें रामानुज दीप और दीपप्रभा का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं, जिस प्रकार दीपप्रभा दीप का गुण है।[2] वह स्वयं में दीप स्वरूप भी। उसी प्रकार आत्मा चिद्रूप और चैतन्यगुणक भी है। चिद्रूप होने से वह स्वयं-प्रकाश है।[3] जिस प्रकार प्रकाश सापेक्ष्य हुआ करता है, उसी प्रकार आत्मा की चिद्रूपताजनित स्वयं प्रकाशता भी सापेक्ष है।[4] उसकी यह सापेक्षता ही उसका ज्ञातृत्व सिद्ध करती है। रामानुज के अनुसार इसलिए स्वयं प्रकाशात्मा प्रकाशमात्र न होकर ज्ञाता भी है।[5] कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार दीपप्रभा स्वयं में प्रकाश भी है, और प्रकाशाश्रय भी है, उसीप्रकार आत्मा ज्ञानस्वरूप भी है और ज्ञानाश्रय भी। तस्मात् वह ज्ञाता है। रामानुज के अनुसार 'अहंसुखी' तथा 'अहं ज्ञाता' आदि प्रयोगों से आत्मा का ज्ञातृत्व सिद्ध होता है और उस ज्ञातृत्व से आत्मा की अहंअर्थ प्रतीति भी सिद्ध हो जाती है। रामानुज के अनुसार ज्ञान गुण भी है और द्रव्य भी। अद्वैतवादियों द्वारा आत्मा को अनुभूतिस्वरूपमात्र कहना और उस अनुभूति को निर्विषया बताना रामानुज को स्वीकार्य नहीं है।

---

२. यथेकमेंव तेजोंद्रव्यप्रभा प्रभावरूपेणावतिष्ठते – पूर्वोक्तैव – १–१–१ पृष्ठ १५०॥

३. एवमात्मा चिद्रूप एव चैतन्येगुणक इति चिद्रूपता हि स्वयं-प्रकाशता–पूर्वोक्तैवपृ० १५३॥

४. प्रकाशत्वादेव कस्यचिदेव भवेत्प्रकाशः दीपादि प्रकाशवत्–पूर्वोक्तैव–पृष्ठ १५५॥

५. अतः स्वयंप्रकाशो अयमात्मा ज्ञातेव, न प्रकाशमात्रम्–पूर्वोक्तैव–पृष्ठ १५४ ॥

उनके अनुसार निर्विषया अनुभूति कल्पनामात्र है। अद्वैतवादियों के मत में निर्विकार आत्मा में ज्ञातृत्व कथमपि संभव नहीं है। किन्तु रामानुज के अनुसार यह बात समीचीन नहीं हैं क्योंकि ज्ञातृत्व विकारात्मक नहीं है अपितु ज्ञानगुणाश्रयता ही ज्ञातृत्व है। ज्ञान आत्मा का स्वभाविक धर्म है, अतः नित्य है। रामानुज 'जो अतत्त्व सूत्र को भी उद्घृत करते हैं। आत्मा को ज्ञानस्वरूपता और ज्ञानाश्रयता में मणि और मणिप्रभा के अविरुद्ध स्वभाव वाला भी दृष्टान्त देते हैं।

रामानुज के मतानुसार आत्मा के ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि गुण स्वाभाविक है, न कि अद्वैतवादियों की भांति अध्यासजन्य या मिथ्या।

इस प्रकार रामानुज अद्वैनवाद के जीवब्रह्मैक्यवाद तथैव कर्तृत्व ज्ञातृत्वादि गुणों के मिथ्या – निरूपण का सतर्क खण्डन करते हैं।

भास्करोचार्य तथा विज्ञानभिक्षु के भेदाभेदवाद में हमें एक अन्यप्रकार का अद्वैतवबाद देखने की उपलब्ध होता है। इनके मत में ब्रह्म से पृथक् जीवात्मा की सत्ता सिद्ध नहीं होती है। अपितु ब्रह्म का अंश हैं। जैसे अग्नि से चिनगारियां निकलती हैं जो अग्नि से पृथक् नहीं है अपितु अग्नि ही है। दयानन्द के मत में उपनिषदों को यह बिल्कुल मान्य नहीं है। क्योंकि यदि जीव ब्रह्म का अंश है, तो यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्म अवयवी है। जो अवयवी न होगा तो जीव चिनगारी के सदृश न हो सकेगा। परन्तु दूसरी और ब्रह्म को सावयव मानने का अर्थहोगा ब्रह्म को परिणामी एवं नाशवान् मानना इस ब्रह्म सत्य ज्ञान एवं अनन्त नहीं रहेगा।

बल्लभाचार्य जीव को अनादि मानते हैं परन्तु ब्रह्म से पृथक् नहीं मानते। जीव अवस्था में ब्रह्म की केवल आनन्द की शक्ति दब जाती है सत् रहता है। निम्बार्क कहते हैं कि जीव ब्रह्म के ही हिस्से हैं। आप अज्ञान की जीव का धर्म बतलाते हैं।[1]

---

१. History of Indian Philosophy-Vol. 3-p. 413 - S. N. Dass Gupta.

आचार्य मध्य जीवात्माओं को तीन विभागों में विभाजित करते हैं। मुक्तियोग्य नित्य संसारी और तपोयोग्य यह तीन प्रकार की आत्मायें होती हैं। मुक्ति के योग्य होती हैं। देव-ऋषि-पितृ-चक्रवर्ती तथा उत्तम ये पाँच प्रकार की होती है। जो दूसरी नित्य संसारी हैं, इन्हें कभी मुक्ति उपलब्ध नहीं होती है। ये जन्म-मरण के चक्र और स्वर्ग-नर्क के भोग तक सीमित है। तीसरे प्रकार की जीवात्मायें राक्षसों की होती है। ये राक्षस दैत्यादि चार प्रकार की होती हैं।[1] परन्तु उपनिषदों के विवेचन से इस प्रकार का विभाजन समीचीन नहीं है। उपनिषदों के किसी स्थल पर भी यह नहीं माना है कि जीवात्मायें सदा के लिए उक्त प्रकार विभाजित हैं। इस से आत्माओं का स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का हनन होता हैं। यदि यह विभाजन होता है तो सर्व आत्माओं के लिए परमात्मा को प्राप्त करने का उपदेश न होता कि जो उस को प्राप्त साधना के द्वारा कर लेते हैं। वे श्रेष्ठ हैं। जो उस की साधना नहीं करते या ईश्वर की उपासना में मन नहीं लगाते उन को महती हानि होती हैं।[2] कठोपनिषद् में कहा है कि दो प्रकार के श्रेय और प्रेय मार्ग हैं। श्रेयमार्ग का अनुगामी श्रेष्ठ है और जो प्रेय मार्ग को अपनाता है, वह हेय है।[3] दयानन्द भी किसी इस प्रकार के विभाजन को स्वीकार नहीं करते हैं उन का कथन है कि आत्मा चाहे पशु की हो चाहे मनुष्यों की, आत्मा अमर है। सेंट थामस की मान्यता है कि पशुओं की आत्मा अमर नहीं है केवल मनुष्यों की आत्मायें अमर हैं।[4]

---

१. History of Indian philosophy-Vol. IV-p. 155-56-S.N.Dass Gupta.

२. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
केन० २।५॥

३. तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयते अर्थात्उप्रेयो वृणीते।
कठ० २।१॥

४. The Souls of animals unlike those many are not immorts A.M.W: philosophy by. B. Russell-p. 480:

दयानन्द भी कहते हैं कि "सारे जीव एक समान है परन्तु पाप पुण्य के भोग से मलिन और पवित्र हो जाते हैं।'[1] आगे उन की मान्यता इस विषय में स्पष्ट है कि मनुष्य का जीव पश्वादि के शरीर में एवं पश्वादि का मनुष्य के शरीर में, स्त्री का पुरुष के और पुरुष का स्त्री के शरीर में आ जाता है या नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में उन का मन्तव्य है कि 'हां आ जाता है।'[2] अतः यह निष्कर्ष निकला कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा शरीर उसे प्राप्त हो जाता है। हाँ दयानन्द यह अवश्य मानते हैं कि यह जो शरीरस्थ चेतना है, इस की तीन अवस्थायें हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत अवस्था में जीव इन्द्रियों से कार्य करता तथा यथार्थ जगत् का ज्ञान करता हैं। स्वप्न में संस्कारों से चित्र विचित्र दृश्य देखता है। इस अवस्था में इन्द्रियों का व्यापार बन्द रहता है। सुषुप्ति अवस्था में गाढ़ निद्रा में रहता है। इस अवस्था में मन एवं इन्द्रियों की क्रीड़ा अवरुद्ध हो जाती है।'[3] परन्तु एक चौथी अवस्था भी उपनिषदों में मानी गई है, वह तुरीयावास्था है वह जीव की मोक्ष काल की अवस्था है।

इस प्रकार उपनिषदें जीव को ब्रह्म से भिन्न नित्य अनादि और पुनर्जन्म का धारण करने वाला और कर्त्ता भोक्ता रूप में मानती है। जीवात्मा का कर्त्ता एवं भोक्ता रूप श्वेताश्वेतर उपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि "जो नाना गुणों से युक्त, कर्म कर्त्ता, उन के फलों का भोक्ता और जो विश्व में तीन गुण हैं, उन के विभिन्न रूपों का आस्वादन करने वाला (शरीरादि के माध्यम से) और

---

१. सत्यार्थप्रकाश—पृष्ठ २५५।

२. स० प्र० — पृष्ठ २८५॥

३. जागरितस्थानोवहिः प्रज्ञः..........
स्वप्न स्थानोऽन्त प्रज्ञः............
यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते.........
माण्डूक्य — ३-४-५॥

प्राणों का अधिष्ठाता जीवात्मा अपने कर्मों के फलस्वरूप नाना जन्मों को धारण करने वाला है।[1]

जीवात्मा का परिमाण—

मध्यमवाद—मुख्यत: जैन मत के अनुसार जीवात्मा का परिमाण न अणु है और न ही विभु अपितु मध्यम परिमाण ही है। चार्वाक को भी इस के अन्तर्गत रखा जा सकता है। जैन दार्शनिकों की इस विषय में मान्यता, स्पष्ट इस प्रकार है; जीवात्मा लोकमितप्रतेश हैं। अर्थात् लोकांश के जितने प्रदेश हैं, उतने ही प्रदेश आत्मा के भी माने जाते हैं। अत: लोक के समस्त प्रदेशों के साथ आत्मप्रदेशों के सम्बन्ध के शक्य होने के कारण आत्मशक्ति सामर्थ्य की दृष्टि से विभु व्यापक है परन्तु व्यक्तिगत स्वरूप की दृष्टि से वह अपने पूर्वार्जित कर्म द्वारा प्राप्त किये गये अपने शरीर मात्र में हो सीमित होने से अविभु-अव्यापक अर्थात् शरीरमात्र परिमाण वाला माना गया है।[2] आगे फिर प्रतिपादन करते हुये स्यादवाद मंजरी में कथन किया है कि 'व्यक्ति रूप में आत्मा अपने शरीर मात्र में ही सीमित रहता है। यह अनुमान द्वारा प्रमाणित होता है, क्योंकि उस के गुणों का प्रकाश उस के शरीर हैं, वह उस स्थानमात्र में ही सीमित होता है जैसे घट, पट[3] आदि पदार्थ आत्मप्रदेश आवश्यकतानुसार सिकुड़ कर लघु और फैल कर विशाल हो जाते हैं। इस

---

१. गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता, कृतस्य कस्यैव स चोपभोक्ता।
प्राणधिपः संचरति स्वकर्मभिः – श्वेता० उ० ५.५ ॥

२. शक्त्या विभुः स इद् लोकमित प्रदेशो व्यक्त्या तु कर्म कृतसौरशरीरमानः यत्रैव यो भवति दृष्टगुण स तत्र कुम्भादिवत् विशमित्यनुमानमत्र ॥ जैनन्याय–का० ७० ॥

३. यत्र यो गुणः स तत्र कुम्भादिवन्तिष्प्रतिपक्षमेतत्।
तथापि देहाद्वहिरात्मतममतत्ववापोपहहताः पठन्ति ॥
श्री मल्लिषेणसूरि प्रणीत स्याद्वाद मंजरी–का० ९ ॥

का अभिप्राय यह हुआ कि जितना विस्तृत शरीर होता है उतना आत्मा भी होगा अर्थात् चिउंटी और हाथी के आत्मा क्रमशः छोटे-बड़े होंगे।

परन्तु उक्त सिद्धान्त की मान्यता उपनिषदों मे प्रमाणित नहीं की जा सकती है क्योंकि इस में दोष यह आता है कि जिस प्रकार दीपक के भौतिक प्रकाश को मकान की भौतिक दीवारें रोक कर संकुचित कर देती हैं। परन्तु यहां अन्तर स्पष्ट है कि दीपक प्रकाश भी भौतिक और दीवार भी भौतिक है, भौतिक से भौतिक का प्रतिबन्ध हो सकता है। दूसरी आपत्ति यह है कि दृष्टान्त में दीप के प्रकाश को ही भवन में विस्तृत हुआ मानते हैं न कि दीपक को व्यापक माना जाता है। वहां आत्मा के प्रकाश को नहीं अपितु आत्मा को शरीर में व्यापक माना गया है। तीसरी आपत्ति यह दी जा सकती है कि सिकुड़ने फैलने वाली रबड़ आदि वस्तुओं में ऐसा देखा जाता है कि उन के अवयव संकुचित होने के समय परस्पर सट जाते हैं और फ़ैलने के समय अपने मध्य में कुछ अवकाश देकर खुल जाते हैं, यदि जीव को भी इसी प्रकार माना जाय तो वह सावयव पदार्थ होगा और वह अनित्य हो जायेगा। आचार्य शंकर भी इस मत का खण्डन करते हैं। उन के मत को स्पष्ट करते हुए सर्वदर्शन संग्रहकार ने विवेचन किया है मध्यम परिमाण वाला पदार्थ अवयवों से युक्त होता है। इस तरह तो आत्मा भी शरीर की तरह अनित्य मानना पड़ेगा। उस का परिणाम यह होगा कि किये गये कर्म का नाश और न किये गये फल की प्राप्ति होने लगेगी।[1] चैतन्य प्रत्येक अवयव में होगा दूसरा चैतन्य अवयवों के समूह में होगा।[2]

पहला विकल्प तो बन ही नहीं सकता, क्यों ऐसी दशा में बहुत

---

१. न चार्हतमतानुसारेणाहंप्रत्ययप्रमाण्यात्मनो······कृतहानाकृताभ्युगमप्रसंगात् ॥

२. अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया अवयवसमुदाय······॥

से चेतन हो जायेंगे परस्पर प्रधानता प्राप्ति के संघर्ष को भी मानना पड़ेगा। परस्पर एकमत न होने से क्रियायें भी एक-दूसरे के विरोध में होने लग जायेंगी। इस प्रकार शरीर भी विदीर्ण होकर निष्क्रिय सा हो जाएगा।[३] यदि दूसरा विकल्प स्वीकार किया जाय कि समूह में ही चेतनता है तो प्रश्न होगा कि अवयवों का यह संघात कैसे होता है ? क्या शरीर की दृष्टि से यह संघात होता है अथवा स्वभावत: ही होता है। या मनमाने ढंग से हो जाता है। पहले विकल्प का तात्पर्य है कि शरीर में जितने अवयव हैं उतने ही आत्मा के भी हैं। दूसरे विकल्प का तात्पर्य है कि सभी अवयव स्वभाव से प्रकृति से आपस में मिले हुए हैं। तीसरे विकल्प का अर्थ है कि अवयवों का संघात बिना किसी नियम के मनमाने ढङ्ग से हुआ है। इन में प्रथम विकल्प इस लिए ठीक नहीं है यदि शरीर का अवयव कट जाता है तो आत्मा का अवयव भी कट जाएगा। अतः जीव पर अचेतना का आरोप आएगा।[१]

द्वितीय नियम भी समीचीन नहीं हो सकता; कि एक दूसरे में सदा एक तरह से संयुक्त होंगे। ऐसा नियम प्रतीत नहीं होता।[२]

तीसरा विकल्प भी नहीं हो सकता है क्योंकि यदि मन माने ढंग संश्लेषण होता है, इसी तरह विश्लेषण भी होगा। इसलिए निश्चित रूप में जीव अचेतन हो जायेंगे।[३]

वास्तव में यदि आत्मा मध्यम परिमाण वाला माना जाय तो उसे मूर्त भी मानना होगा क्योंकि मध्यम परिमाण वाले समस्त द्रव्य मूर्त होते हैं। समावेश शक्य न होने से शरीर में उसका अनु-

---

३. नाथः। बहूनां चेतना·········माध्वीय सर्वदर्शन संग्रह शांकर दर्शनम् ॥

१. नायं। एकस्मिन्नवयवे छिन्ने......

२. न द्वितीय......

३. न तृतीयः। संश्लेष्यविश्लेषणस्यापि......सर्वदर्शन संग्रह शांकर दर्शनम् ॥

प्रवेश न हो सकेगा। यदि मूर्त शरीर में मूर्त मन और बालुका पुंज में मूर्त जल कणों के सदृश मूर्त शरीर में मूर्त आत्मा के समावेश की उत्पत्ति की जाएगी तो शरीर के अखिल भाग में शैत्य, औष्ण्य आदि की सह अनुभूति के लिए शरीर के समस्त अवयवों में सामञ्जस्य के लिए उसको शरीरसम परिमाण माना होगा। शरीर सम होने पर शरीर के समान उसे जन्म तथा शरीर का खण्डन एवं प्ररोह होने पर उसका भी खण्ड और प्ररोह मानना होगा जब कोई शरीर कटकर अनेक खण्डों में विभक्त होगा तो उन जीवित खण्डों में उस शरीर के आत्मा अनु प्रवेश होने पर एक ही आत्मा के अनेक भेद हो जायेंगे।

सांख्य दर्शन में भी जीवात्मा के मध्यम परिमाण का खण्डन उपलब्ध होता। जैसे घटादि पदार्थ मध्यम परिमाण होने से सावयव तथा विनाशी हैं। ऐसे ही पुरुष भी मध्यम परिमाण वाला मानने से सावयव तथा विनाशी हो जायेगा।[1]

विभुवाद– विभुवादियों के अनुसार आत्मा का परिमाण विभु है। अर्थात् जीवात्मा व्यापक है। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि और पदार्थ संग्रह के कर्त्ता प्रशस्तपाद अनेक स्थलों पर आत्मा को व्योम सदृश व्यापक बताते हैं।[2] उनका कहना है आत्मा का परिमाण प्रत्यक्षादि द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता है अपितु अतीन्द्रिय परिमाण माना चाहिए। दो प्रकार के द्रव्य होते हैं नित्य और अनित्य। अनित्य द्रव्यों का परिमाण न परम अनु और न परम महान्। उनका मध्यम परिमाण होता है। तथा पृथ्वी जलादि। नित्य द्रव्य परम अनु भी होते हैं, परम महान् भी जैसे परमाणु और आकाश।

---

१. मूर्तत्वाद् घटादिवत् समान धर्मापत्तावावसिद्धान्त – सांख्य १।५० ॥

२. आकाश तुल्येनात्मकथनात् परममहत्त्वमित्यर्थः – प्रशस्तपाद भाष्ये आत्मनिरूमणम् ॥

विभुवादी एक और हेतु उपस्थित करते हैं कि अदृष्ट के क्रिया में हेतु होने से भी जीवात्मा को व्यापक कहते हैं। क्रिया के निमित्त कारण अनेक हैं गुरुत्व वस्तु के गिरने में कारण हैं। प्रत्येक भारी पदार्थ नीचे गिरता है द्रवत्व से पानी में गति होती है। गुरुत्व, द्रवत्व, प्रयत्न, वेग गुण हैं। जिस वस्तु में ये होते हैं उसमें क्रिया उत्पन्न करते हैं, उस वस्तु में जिन पदार्थों का सम्बन्ध ही उसमें क्रिया उत्पन्न कर हिला डुला देते हैं। वाष्प के वेग से इंजन दौड़ता है और इंजन के साथ बंधी हुई बोगियां भी दौड़ती हैं। एक पदार्थ गतिशील रहता है तब तक उसके साथ जुड़े हुए अन्य पदार्थ भी गतिमान रहते हैं। जैसे ही आत्मा प्रयत्न गुण के समान धर्म और अधर्म नामक गुण भी पदार्थ में क्रिया उत्पन्न कर सकते हैं। भारतीय मनुष्य के धर्माधर्म विदेश के वस्त्र में तभी गति उत्पन्न करते हैं[1] जब उनके आश्रय आत्मा का विदेश के वस्त्र के साथ सम्बन्ध हो। इंजन का वेग उन्हीं बोगियों को चलाता है जो इंजिन से संयुक्त हैं, जो उससे नहीं जुड़ी होती वे वहीं खड़ी होती। धर्माधर्म आत्मा में रहते हैं वे दूर से वस्तुओं में गति उत्पन्न नहीं कर सकते। यदि आत्मा को विभु माना जाय और शरीर से बाहर व्यापक स्वीकार कर लिया जाय तो उक्त समस्या का समाधान किया जा सकता है।

अग्नि के ऊर्ध्व ज्वलन और वायु के तिर्यक् गमन का हेतु—

जीवों के धर्माधर्म को अग्नि के ऊर्ध्वज्वलन और वायु के तिर्यक्

---

१. एक व्यक्ति भारत में रहता है वह विदेश की कपास के बने वस्त्र पहनता है उनसे अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करता है। इस अनुभव के कारण वे उसके धर्माधर्म हैं। उसके धर्माधर्म ने विदेश के कपास के बने सुन्दर वस्त्रों में क्रिया उत्पन्न की। के धर्माधर्म अनेकों योजनों की दूरी से वस्तुओं को खीचते हैं।

गमन का कारण कहते हैं।[1] अतः ऊर्ध्वज्वलन और तिर्यगमन् का धर्माधर्म ही कारण प्रशस्तपाद मुनि स्वीकार करता है। कारण होने के लिए आत्मा का अग्नि और वायु के सम्बन्ध होना चाहिए। आत्मा का व्यापक होना ही इस समस्या का समाधान है।

अभेदवादियों का विभुत्वपक्ष—

अभेदवादी जो विभु परिमाण मानते हैं वे प्रमाण देते हैं, वह आत्मा जो प्राणों के जीव विज्ञान मय है और महान् अजन्मा हैं।[2] यहां यह स्पष्ट रूप में आत्मा को महान् और विज्ञान- मत कहा है।

उसके अतिरिक्त कोई दृष्टा नहीं है और न ही कोई ज्ञानी है।[3] उससे भिन्न कोई देखने वाला, सुनने वाला, मनन करने वाला और ज्ञान करने वाला नहीं है[4] उपनिषदों के अनेक वचनों के प्रमाणों से जीव को पृथक् चेतन सत्ता और अणु परिमाण आदि वाला मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अतः विभुवादी अपनी युक्ति और प्रमाणों से आत्मा का परिमाण विभु सिद्ध करते हैं। इस विभु को दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो वे है जो आत्मा को अनेक मानने पर भी विभु मानते हैं और दूसरे वे हैं जो केवल एक ही आत्मतत्त्व स्वीकार करते हैं। उपाधि भेद से अनेक हैं।

जो अद्वैतवादी आत्मा को विभु मानते हैं उनका प्रत्याख्यान उपनिषदों के प्रमाणों से जीवात्मा और ब्रह्म में भेद दिखला कर

---

१. तथा धर्माधर्मयोरात्मगुणत्वादाश्रस्ताव्यापकत्वे च स्यात् अग्नेरूर्ध्वंज्वलनं वायोस्तिर्यगमनं......अदृष्ट एव कारणमतो व्यापकत्वाच्च परममहत्तत्वम्— प्रशस्तपाद भाष्य आत्मनिरूपणम् ॥
२. स वा एष महानज आत्मायोग्यं विज्ञानमयः प्राणेषु — बृ० ४।४।२३ ॥
३. नान्यो अस्ति दृष्टा नान्यो अस्ति विज्ञाता — बृ० ३।७।२३ ॥
४. नान्यो अस्ति दृष्टा, श्रोतृ, विज्ञातृ — छा० ६।८।७॥

कर आये हैं उक्त प्रमाणों का भी यही उत्तर है कि यहां पर भी ब्रह्म का ही प्रतिपादन है। जीवात्मा का प्रकरण ही नहीं है। आत्मा शब्द ब्रह्म और जीव दोनों के लिए वेद और उपनिषदादि समस्त वैदिक साहित्य में प्रयुक्त हुआ है। यही अभिप्राय है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और सब चेतन अल्पज्ञ अर्थात् थोड़ा जानने वाले हैं।[1]

जो अदृष्ट हेतु विभुवाद पक्ष में दिया गया है यह समीचीन नहीं है क्योंकि जैसे वायु जिस प्रकार स्वयं समीप आता हुआ तृण आदि को ले जाता है इसीप्रकार धर्माधर्म पास आते हुए विदेश की कपास को लाये तो धर्माधर्म की आवश्यकता नहीं है। कपास वहां से चलकर स्वयं समीप आ सकती है। यह ठीक है कि जीव धर्माधर्म करता है, उसका फल देने के लिए ईश्वर सृष्टि की रचना करता है। ईश्वर के पदार्थ से जीव, सुख दुःख का उपभोग करता है। जीवों का सम्बन्ध न होने पर भी ईश्वर को वस्तुओं के उत्पन्न करने में कोई बाधा न होने पर भी ईश्वर को वस्तुओं के उत्पन्न करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है। अत ईश्वर की व्यवस्था से पदार्थ समीप उपभोगार्थ चले आते हैं। यह भी आवश्यक नहीं कि सभी कुछ अदृष्ट के कारण हो रहा हो, इस जन्म के कर्मों के कारण भी हम बहुत सी वस्तुओं का उपभोग करते हैं।

अग्नि का ऊर्ध्वज्वलन और वायु का तिर्यगमन हेतु भी आत्मा को विभु सिद्ध नहीं करते हैं, क्योंकि ये इन के स्वाभाविक गुण हैं। जैसे अयस्कान्त (चुम्बक) लोहे को आकर्षित करने को स्वाभाविक शक्ति रखता है। धर्माधर्म को ही यहां कारण नहीं कहा जा सकता अपितु ये अग्नि और वायु के स्वाभाविक गुण हैं।

अणुवाद—तीसरा पक्ष आत्मा के परिमाण को अणु बतलाता है। यही उपनिषदों का सिद्धान्त मानना चाहिए। आत्मा अपने ज्ञान प्रयत्नादि लिंगों से जाना जाता है और वे लिंग शरीर के भीतर हैं, ऐसी स्पष्ट प्रतीति होती है। अत: इन के आश्रयभूत द्रव्य

---

१. दृष्टव्य उपनिषदों पर आर्यमुनि भाष्य ॥

आत्मा को भी शरीर में ही होना चाहिए। जिस दीपक का प्रकाश कुटिया में ही है वह केवल कुटिया में ही व्यापक होना चाहिए। दीपक के सदृश यदि आत्मा शरीर में व्याप्त माना जाय तो दीपक की तरह अनित्य हो जायेगा, नित्य होने के लिए अणु या विभु परिणाम होने चाहिएं। विभुवाद को हम पूर्व देख आये हैं वह तो हो नहीं सकता क्योंकि सब की विचारधारायें एक सी नहीं होती हैं यदि किसी स्थान पर दो व्यक्ति उपस्थित हों तो दोनों की विचारधारायें पृथक्-पृथक् उन के मस्तिष्क में बह रही होती है। एक का दूसरे के साथ कुछ भी सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। मैं यह नहीं जान पाता कि दूसरे के मन में क्या है। वह नहीं जान पाता कि मेरे मन में क्या है?

उपनिषदों में आत्मा को अणु अनेकों स्थानों पर कहा गया है कि जबकि विभु स्पष्ट रूप में एक स्थान पर नहीं कहा है। मुण्डक उपनिषद् में प्रतिपादन करते हुए आत्मा के विषय में कहा है, इस अणु अर्थात् परिच्छिन्न सूक्ष्म आत्मा को बुद्धि के द्वारा जाना चाहिए, पांचों प्राण वृत्ति रूप से बुद्धि सन्निविष्ट हैं। मानव मात्र की बुद्धि प्राणों से प्रभावित होती रहती है।[1]

इसी प्रकार यम नचिकेता को कठोपनिषद् में कह रहा है कि जिस आमतत्त्व का मैं प्रवचन करने लगा हूं वह शरीरादि जड़ तत्त्वों से रहित हमारे अन्दर अणु रूप में विराजमान है।[2] इसी उपनिषद् में दूसरे स्थलों पर अंगुष्ठ मात्र मस्तिष्क मध्य में अंगुष्ठ के निवास स्थान की दृष्टि से किया गया है। शरीर के समस्त ज्ञान-

---

१. एषोऽणुरात्मा चेतसावेदितव्योयस्मिन् प्राणः प्रचधा संविवेश मु० उ० ३।१।९ ॥

२. एतच्छ्रुत्वसम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य। कठ० १।२।१३॥

३. अंगुष्ठमात्र पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति – वही – ४।१२ ॥

४. अंगुष्ठमात्र पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः – वही ४।१३ ॥

तन्तुओं का केन्द्र है वही आत्मा का स्थान मानना अधिक समीचीन है। इसी उपनिषद् में आगे कहा है कि वह अन्तरात्मा सदा मानवों के हृदय में सन्निविष्ट हुआ अंगुष्ठ परिमाण स्थान में निवास करता है[1]। इसी प्रकार इसी भाव को श्वेताश्वेतर उपनिषद् में बतलाया है कि "संकल्प और अहंकार से युक्त सूर्य के सदृश प्रकाश स्वरूप सूर्य जिस प्रकार एक स्थान पर रहता हुआ सम्पूर्ण सौरमण्डल को प्रकाशित करता है, ऐसे ही शरीर में एक स्थान पर बैठा हुआ आत्मा समस्त शरीर को प्रकाशित एवं नियन्त्रित करता है।[2] जीव के परिणाम को बतलाने के लिए इस उपनिषद् में एक कसौटी का निरूपण किया है। रोम का अग्रभाग ले कर उस को सहस्रधा विभक्त कर दिया जाये, उसे भी सूक्ष्म जीवात्मा का परिमाण जानना चाहिए यह कथन जीवात्मा की अत्यन्त अणुता के अग्रभाग ठीक दस सहस्रवां भाग जीवात्मा का परिणाम है।[3] यहां उपनिषद्-कार इस बात की ओर संकेत करते हैं कि जीवात्मा का परिमाण जो हम अणु कथन कर रहे हैं वह अणु प्रकृति का अणु नहीं है अपितु उस से भी सूक्ष्म चेतन जीवात्मा एकदेशी और परिछिन्न परिमाण वाला है। प्रश्नोपनिषद् में स्पष्टरूपेण कथन किया है कि यह आत्मा हृदय में है।[4] यदि विभु जानने का सिद्धान्त होता तो आत्मा को हृदय में कभी नहीं कहा जाता। इसी प्रकार छान्दोग्य में आया है कि यह आत्मा हृदय में है।[5] बृहदारण्यक उपनिषद् में भी इसी सिद्धान्त की मान्यता उपलब्ध है, 'कौन सा आत्मा यह है कि जो कि प्राणों के मध्य में विज्ञानवान हृदय के अन्दर ज्योतिरूप

---

१. अंगुष्ठमात्र पुरुषो अन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः — वही — बृ० ६।१७ ॥

२. अंगुष्ठमात्रो रवितुल्य ॥

३. बालग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च — श्वेता० ३।१३, ८-६ ॥

४. हृदि ह्ये ष आत्मा — प्रश्नो० ३।६ ॥

५. स वा एष आत्मा हृदि — छान्दोग्य-८।३।२ ॥

है।[1] अथर्ववेद में भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि मिलती है। अर्थात् आत्मा का स्थान हृदय है।[2]

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि यह शरीर में एक स्थान पर रहने वाला आत्मा कैसे समस्त शरीर में अपना प्रकाश फैलाता है। जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णन आया है, उस हृदय का अग्र अर्थात् चारों ओर का भाग चमक रहा है।[3]

जिस प्रकार हृदय के मध्य विराजमान आत्मा का ज्ञान रूप प्रकाश हृदय के बाहर भी फैला हुआ है। ठीक इसी प्रकार समस्त शरीर और उस से भी बाहर फैल जाना संभवतः प्रतीत होता है।

अब प्रश्न हो सकता है कि गुण गुणी से बाहर कैसे रहेगा? इस का उत्तर दिया जा सकता है, जैसे कि कस्तूरी की गन्ध बाहर फैल जाती है।[4] यहां यह चिन्तनीय है कि कस्तूरी का अणु उड़ कर वायुमण्डल में फिरता रहता है, परन्तु कस्तूरी का भार न्यून न होने के कारण ऐसी शंका निर्मूल प्रतीत होती है। इसी बात को उपनिषद्कार ऋषि बतला रहे हैं कि आत्मा के ज्ञान का उस से पृथक् भी फैले रहने का उपदेश दे रहे हैं, अर्थात् शरीर में आत्मा एक स्थान पर रह कर अपनी शक्ति से चेतनता और ज्ञान समस्त शरीर में रखने का सामर्थ्य रखता है। बृहदारण्यक में कहा है वह आत्मा इन प्राणों की शक्ति को अपने विज्ञान से समेट कर जो कि हृदय में हृदयाकाश है, उस में सोता है।[5]

---

१. कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्त ज्योर्तिपुरुषः ॥
२. बृहस्पतिर्मे आत्मा नृणानाम् हृद्यः – अथर्व० १६।३।१५ – बृह० ४।४।२ ॥
३. तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते – बृ० ४।४।२ ॥
४. व्यतिरेको गन्धवत् – वे० २।३।२६ ॥
५. यत्रैष एतत् सुषुप्तौऽभूत, य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषो अन्तर हृदय आकाश-तस्मिन् शेते ॥ बृह० – २।१।१७ ॥

उपनिषदों में जीवात्मा का अणुरूप में परिमाण माना गया है। यह उपर्युक्त प्रमाणों से पूर्णतः सिद्ध हुआ मानना चाहिए।जहां विभुवाद की गन्ध प्रतीत हो वहां दो प्रकार की बात हो सकती है एक तो जीवात्मा का वर्णन न हो कर ब्रह्म का वर्णन हो सकता है। दूसरे जीवात्मा की महिमा का वर्णन अतिशयोक्ति द्वारा किया गया हो, अन्यथा जैसा कि प्रायः अब सभी उपनिषदों में अणुरूप में कहा है या उस को हृदय में विराजमान बतलाया है। हृदय में कथन करने से विभुवाद स्वतः खण्डित हो जाता है यह मान्यता उपनिषद् तक ही सीमित नहीं है अपितु वेद में भी इस का प्रतिपादन है, ऐसा स्पष्ठ ज्ञात होता है। ऋग्वेद के १।१०१।७, १।२३।१४, १।६७।२, १।६७।३ और यजुर्वेद में ४।३१, ४०।३, ४०।१७, १२।३६ तथा सामवेद में उ० प्र० मंत्र १७ आदि स्थलों पर स्पष्ट रूप में जीवात्मा को अणु माना गया है।

सांख्य दर्शन के बहुत से विद्वान् आत्मा को विभु स्वीकार करते हैं। परन्तु सूक्ष्मता से देखा जाय तो यहां पर आत्मा को अणु-रूप में प्रतिपादित किया है। पंचशिखाचार्य ने यह स्पष्ट स्वीकृति दी कि आत्मा अणु परिमाणवाला है।[1] पं० उदयवीर शास्त्री जिन्होंने सांख्य दर्शन पर तीन प्रामाणिक पुस्तकें लिखी हैं, सांख्य दर्शन में आत्मा को अणु परिमाण वाला कथन करते हैं।[2] न्याय दर्शन के कुछ भाष्यकारों ने भी आत्मा को विभु माना है परन्तु न्याय दर्शन के कुछ स्थल चिन्तनीय हैं। वात्सासन मुनि ने ही व्याख्यान किया हैं यह नित्य आत्म शरीर को छोड़ता है, मरता है और

---

१. तमणुमात्रमात्मानमनुविधास्मीत्येवं तावत् संप्रजानीते। पंजाशिख–सू०५।

२. कपिल और पांचशिखादि सांख्य के मूलभूत आचार्यों का यह विचार प्रतीत होता है कि उन्होंने आत्मा को विभु नहीं माना प्रत्युत परिच्छिन्न अथवा अणु माना है। सांख्यसिद्धान्त–प्र०अ० उदयवीर शास्त्री॥

मर कर पूर्व शरीर को छोड़ना है।[१] इसी प्रकार आगे कहा है कि आत्मा शरीर, मन, इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर प्रत्यक्ष होता है।[२] इसके अतिरिक्त ३।१।२२ पर भी भाष्य में यह उक्त भाव उपलब्ध होता है। एक नवीन दृष्टि से इन दर्शनों पर अलग से अनुसंधान का विषय हैं परन्तु यहां पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आत्मा मर कर दूसरे स्थल पर जन्म ग्रहण कर लेता है। यह बिना अणु परिमाण के संभव नहीं है। आत्मा का आना, जाना, विभु मानने पर संभव नहीं है अपितु वहां केवल कारण शरीर के जाने की बात तो कही जा सकती है परन्तु आत्मा अन्यत्र जन्म लेता है, यह प्रतिपादन होने से आत्मा का अणु परिमाण मानना ही स्पष्ट द्योतक है। उक्त दृष्टि से यदि विवेचन किया जाय तो न्यायदर्शन में अनेकों सूत्र इसके प्रतिपादन में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

ऋषि दयानन्द जीवात्मा को परिच्छिन्न रूप में स्वीकार करते हैं। उनका परिच्छिन्न का अर्थ यह है कि अणु कहने से प्रकृति का अणु सन्देह में न माना जाय, इसलिए उन्होंने परिच्छिन्न अर्थात् अति सूक्ष्म एकदेशी जो प्रकृति के अणु से स्वभावरूप में सूक्ष्म है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि जीवात्मा अनेक हैं और ये मध्यम परिमाण वाले भी नहीं हो सकते क्योंकि उपर्युक्त दोष आयेंगे। विभु भी नहीं हो सकता, क्योंकि जीवात्मा का जाना आना आदि नहीं हो सकते और जीवात्मा और ब्रह्म का व्याप्य व्यापक सन्बन्ध है।[३]

---

१. नित्योऽयमात्मा प्रेतिपूर्वं शरीरं जाहि प्रितते इति प्रेत्य च पूर्वं शरीरं हित्वा शरीरान्तरमुपादत्त इति वात्सायन भाष्य— ४।१।१० ॥

२. आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति ॥

३. प्रश्न—जीव शरीर से भिन्न विभु वा परिच्छिन्न
उत्तर—परिच्चिन्न। जो विभु होता है तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जन्म, संयोग वियोग, जाना, आना, कभी हो नहीं सकता। इसलिए अल्पज्ञ... ..इसलिए जीव परमेश्वर का सम्बन्ध व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है। स० प्र० समु० ७ ॥

योगदर्शन में जीवात्मा को प्रकृति से सूक्ष्म माना गया है। व्यासमुनि भाष्य करते हुए कहते हैं, प्रकृति से सूक्ष्म पुरुष है।[1] ऋषि दयानन्द परिच्छिन्न होने में एक और युक्ति मानते हैं कि जीवात्मा अणु में भी रहता है। अतः उनका यह प्रादुर्भाव इस काल में हुआ जबकि विज्ञान बढ़ रहा था। इसलिए उपनिषदों में जो आत्मा को अणु या हृदयस्थ माना है उसका अभिप्राय समझाते हुए उन्होंने परिच्छिन्न शब्द का प्रयोग इसलिए किया कि इस अणु से अभिप्राय प्रकृति के अणु से न लिया जाये। अथर्ववेद का भाष्य करते हुए आचार्य सायण भी जीवात्मा के परिमाण को परिच्छिन्न मानते हैं।[2]

इसप्रकार निष्कर्ष यह निकला कि जीवात्मा नित्य है और नाना है, अणु परिमाण वाला होने से नाना योनियों में गमन करता रहता है। वास्तव में यदि आत्मा विभु माना जाय तो वह मृत देह में भी व्याप्त है। तो वह शरीर मृत नहीं कहा जाना चाहिए। यदि स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर होने पर चेतन माना जाय तो अन्यत्र चेतनता का ह्रास मानना पड़ेगा। हमारे शास्त्रों में और उपनिषदों में उत्क्रान्ति अथवा गति अगति का आपर जीवात्मा माना गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है कि यदि धर्म और अधर्म से वह जीवात्मा और अधर्म योनियों में जाता है। अतः यह तभी संभव है कि जबकि उसे अणु (परिच्छिन्न) परिमाण वाला माना जाये। उत्क्रान्ति का सिद्धान्त अनेकों स्थलों पर उपनिषदों में उपलब्ध होता है।[3] गीता में भी इस सिद्धान्त को माना है— देह को

---

१. अनु—अस्ति पुरुषः सूक्ष्म वेति—व्यासभाष्य—१।४५ पर द्रष्टव्य।

२. अव्यश्च व्यचसश्च बिलविष्यमि माया—अथर्व० १६।६८।१
भाष्य—अव्यसः अव्यापकस्य परिच्छिन्नस्य जीवात्मनः ॥

३. छान्दोग्य — ५।१०।१७ — बृहदारण्यक ४।३।३६ — श्वेता० ५।७॥५।१२॥

छोडते हुए शरीर में वास करते हुए विषयों का उपभोग करते हुए आत्मा को ज्ञान चक्षु वाले देखते हैं न कि अज्ञानी जन।[2]

उपनिषदों में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जीवात्मा का परिमाण अणु है, अर्थापति से स्वयं यह सिद्ध हो जायेगा कि उपनिषद जीवात्मा को एक नहीं अपितु अनेक मानतो हैं। क्योंकि किसी का जन्म किसी का मरण और किसी को सुख, किसी को दुःख अनुभव होने से आत्मा अनेक ही सिद्ध होते हैं।

समालोचना—

आचार्य शंकर जीवात्मा की सत्ता व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म से भिन्न स्वीकार करते हैं जबकि दयानन्द तात्विक दृष्टि से जीवात्मा को शाश्वत् नित्य मानकर ब्रह्म से तात्विक भेद स्थापित करते हैं। दयानन्द की मान्यता है कि जब ब्रह्म की ही एकमात्र पारमार्थिक सत्ता है तो व्यावहारिक काल के जीवात्मा का निर्माण कैसे संभव है ? यदि प्रत्ययवादी कहें कि जीवात्मा माया से अनादि काल से मायोपहित है तो अनादि काल से जीवात्मा ब्रह्म से पृथक् हो तो हुआ यदि मायोपहित चैतन्य का प्रारंभ माना जाय तो उसका कारण तार्किक दृष्टि से असंभव सा है। बचने के यिए ही प्रत्ययवाद में माया को अनादि मानना पड़ा है।

शंकर जीवात्मा का परिमाण विभु स्वीकार करते हैं और दयानन्द परिच्छिन्न (अणु)। उपनिषदों में भी अणु शब्द का अभिप्राय: यदि प्रकृतिस्थ अणु माना जाये तो जीवात्मा को भौतिक मानने की आपत्ति अवश्य आ खड़ी होती है। अत: अणु शब्द का प्रयोग प्रतीकात्मक मानना उचित प्रतीत होता है। संभवत: दयानन्द ने इस आपत्ति से बचने के लिए ही परिच्छिन्न शब्द का प्रयोग किया है। अणु शब्द का प्रयोग यदि भौतिक रूप होता तो जीवात्मायें स्थान घरती परन्तु असंख्या जीव भी एक स्थान पर आजायें तो स्थानाभाव नहीं होगा और न ही आकार प्रकार बढ़ेगा। इससे निष्कर्ष निकलता

२. उत्क्रान्तं स्थितं वापि भुंजा.नं.गीता—१५।१०, १४।१४ ॥

है कि जीवात्मा भौतिक अणु परमाणु वाला न होकर एकदेशी शुद्ध चेतन है, यहां दयानन्द और अन्य दार्शनिकों का अभिप्रायः उचित प्रतीत होता है। जीवात्मा कर्मों का फल भोगता है। कर्म करने में स्वतंत्र है, इसमें दयानन्द और शंकर सहमत हैं; दयानन्द आत्मा को नित्य और अनादि मानते हैं शंकर अनादि मानते हैं परन्तु एक प्रकार से नित्य नही मानते हैं।

आचार्य रामानुज के जीवात्मा को नित्य मानते हुए उस के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार तो अवश्य किया है किन्तु उस को परमात्मा का ही अंश माना है। वह परमात्मा का प्रकार है। परमात्मा की अपेक्षा रखने के कारण उसे शेष कहा है। उस का परमात्मा के साथ पृथक् सिद्ध शरीरात्मभाव सम्बन्ध हैं, दयानन्द रामानुज के इस विचार से सर्वथा सहमत हैं कि आत्म नित्य है किन्तु वे जीवात्मा के अस्तित्व को सर्वथा स्वतन्त्र स्वीकार करते हैं, उन के अनुसार जीवात्मा का परमात्मा के साथ स्वामो सेवक का सम्बन्ध है जो अपनी सेवाओं के फल के हेतु नाम अपने स्वामी पर आश्रित है। यदि वह उपासनादि सत्कार्य, जो अपने स्वामी की इच्छानुक्त हों, करता है तो परमात्मा रूपी स्वामी उन का उचित और कल्याणकारी मूल्य चुकाता है। और यदि वह अपने स्वामी को असन्तुष्ट कर निरंकुश कार्य करता है तो वह परमात्मा रूपी स्वामी उसे उन कार्यों का उचित दण्ड भी देता है।

इस बात पर दोनों दार्शनिक सहमत हैं कि जीवात्मा को परमात्मा व्याप्त किये हुये हैं। किन्तु महर्षि दयानन्द रामानुज की भांति उस व्याप्तता को तद्-वंशभूतता के कारण नहीं मानते, प्रत्युत साक्षी-भावत्व ही उस की व्याधि का हेतु मानते हैं।

आचार्य रामानुज यद्यपि जीवात्मा को परमात्मा का अंश, प्रकार, शेष और आधेय मानते हैं कि प्रलयावस्था या कारणावस्था में वे उन जीवात्माओं की परमात्मा में सन्धि मान कर भी पुनः परमात्मा का शरीर मान कर भी उन के पूर्ण अस्तित्व की आहुति परमात्मा को नहीं चढ़ा देते,

प्रत्युत सूक्ष्मरूपापन्नावस्था में मात्र एकमेव व्याप्य स्वीकार करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जीवात्माएं उस अवस्था में परमात्मा से भिन्न हो कर भी भिन्न रहती हैं। अर्थात् उन में पारस्परिक अर्थात् आत्मा के साथ नहीं होता।

प्रतीत यह होता है कि आचार्य रामानुज अद्वैतवाद का माया के स्वरूप से विचलित तो अवश्य हुए किन्तु वे जीवात्मा की उस सहसत्ता का खण्डन करना नहीं चाहते, जिस में वह परमात्मा के साथ या उस का प्रकार होने के मध्यता से रहित हो जाये।

इस प्रकार महर्षि दयानन्द की भांति आत्मा को नित्य, संसारणावस्था में भी परमात्मा से व्याप्त एवं उस के अनादित्व को स्वीकार करते हैं, किन्तु वे विहित जीवात्मा और परमात्मा के प्रकार प्रकारी या शरीरत्व सम्बन्ध पर सहमत नहीं हैं, उन की सृष्टि में जीवात्मा का परमात्मा के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है।

महर्षि रामानुज और महर्षि दयानन्द दोनों ही इस बात पर एकमत हैं कि जीवात्मायें गणनात्मक दृष्टि से एक हैं क्योंकि इस जगत् में जीवात्माओं से युक्त दुःख अज्ञान आदि रूपों में वैभिन्नय देखते हैं। अतः जीवात्माओं का संख्यात्मक दृष्टि से तनाव हैं। दोनों इस बात पर भी एक मत हैं कि गुणात्मक दृष्टि से भी सभी जीवात्मायें समान हैं दोनों ही जीवात्माओं को स्वरूपतः नित्य अनादि, ज्ञाता, चेतन तथा अल्पज्ञत्वादिगुणान्वित मानते हैं।

दोनों ही जीवात्माओं को ज्ञानाश्रय और ज्ञाता स्वीकार करते हैं। इन तथ्यों अपनाने निर्धारित विषयों को ग्रहण कर मन को देती है और मन आत्मा को। जिसे यह प्रकाशित करता है और इस प्रकार किसी भी विषय का ज्ञान होता है। रामानुज ने आत्मा के ज्ञानाश्रयत्व एवं ज्ञातृत्व का अद्वैतवादाभिमत आत्मा के ज्ञानस्वरूपत्व का खण्डन करने हेतु विशेष विस्तृत प्रतिपादन किया है। उन्होंने ज्ञान की आत्मा का अपृथक् सिद्ध गुण माना है, और उस के अनुसार ज्ञान गुण के साथ-साथ स्वयं में द्रव्य भी है। यद्यपि

रामानुज ने ज्ञान का ऐसा विस्तृत समालोचन तो नहीं किया है, तथापि उन्होंने आत्मा को रामानुजवत् स्वतन्त्रज्ञाता स्वीकार किया है और ज्ञान को आत्मा की एक नित्य विशेष सामर्थ्य माना है। महर्षि दयानन्द ज्ञान को मात्र गुण रूप में ही स्वीकार करते हैं, द्रव्य रूप में नहीं।

आचार्य रामानुज को कर्त्ता और भोक्ता मानते हैं, दयानन्द भी उनके इस मत से सहमत हैं। जीवात्मा यद्यपि अपने स्वरूप से निर्विकार है, किन्तु वह कर्त्ता है उसमें यह कर्तृत्व और भोक्तृत्व को उस की एक ज्ञानावस्था-विशेष ही मानते हैं, किन्तु इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता। ज्ञानावस्था-विशेष होने से भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि आत्मा के ही धर्म हैं क्योंकि धर्मभूत ज्ञान आत्मा का अपृथक् सिद्ध गुण है। अतः तत्कृत कर्तृत्वादि भी आत्मा के अपृथक् सिद्ध गुण या धर्म हो जाते हैं।

महर्षि दयानन्द आत्मा को न तो स्वभावतः मुक्त मानते हैं और न बद्ध, नैमित्तिक मानते हैं। तस्माद् कर्त्तृत्वादि को उस का नित्य धर्म मानते हैं। जीव के कर्तृत्व भोक्तृत्व के विषय में जो विशेष अन्तर इन दोनों दार्शनिकों में है, वह यह है कि रामानुज जीवात्मा के कर्तृत्व को परमात्मा के द्वारा प्रेरित मानते हैं। किन्तु दयानन्द उन के इस विचार से सहमत प्रतीत नहीं होते। क्योंकि उन्होंने कर्तृत्व को जीवात्मा के स्वायत्त माना है यद्यपि वह जीवात्मा के कर्तृत्व में हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करते। उन के अनुसार यदि परमात्मा को जीवात्मा के कर्तृत्व का नियामक अथवा प्रेरक माना जायेगा तो संसार में जीवात्माओं के द्वारा कृत गर्हित। श्लाघ्य, कर्मों की व्यवस्था नहीं बन सकती। क्योंकि रामानुज के इस विचार से सर्वथा सहमत हैं कि जीवात्मा का कर्तृत्व का नियमन या प्रेरणा से होता है।

यदि नीति शास्त्रीय दृष्टि से हम दयानन्द की कर्तृत्वस्वातन्त्र्य-विषयक धारणा का मूल्यांकन करें तो जीवात्मा अपने शुभाशुभ कर्मों के प्रति अधिक उत्तरदायी ठहरता है।

जीवात्मा के कर्मों की फलितता और उसका नियमन परमात्मा के द्वारा होता है—दोनों ही दार्शनिक इस बात पर एक मत हैं। जीवात्मा के द्वारा कृत कर्मों का फल कोई व्यतिरिक्त शक्ति ही, जो सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ ही दे सकती है। कर्म स्वयं अपना नियमन व्यापार नहीं कर सकते, क्योंकि वे मात्र भावरूप हैं। उधर जीवात्मा भी अपने कर्मों के फल के निर्धारण नहीं कर सकते, क्योंकि यदि वे स्वयं अपने कर्मों के फल के विधाता हों तो सभी अपने २ लिए सत्फलों का आयोजन करने लगें। जगत् या प्रकृति भी कर्म-फलों की व्यवस्था नहीं कर सकते क्योंकि वे दोनों स्वभावेन जड़ हैं। परमपिता परमात्मा ही जीवों के कर्मफलों की व्यवस्था करता है। अतः इस रूप में जीवात्मा का कर्मफलाभोग में पारतन्त्रय दोनों दार्शनिको को अभीष्ट है।

रामानुज के अनुयायियों ने आत्मा को आनन्द रूप माना है। सुषुप्ति अवस्था में धर्मभूख ज्ञान के विरत हो जाने पर जो एकमात्र चैतन्यावस्था होती है उसके अनन्तर जागने पर में सुखपूर्वक सोया ऐसी अनुभूतियों को जीवात्मा की आनन्दरूपता का प्रतीक मानते हैं किन्तु दयानन्द उनके इस विचार से सहमत नहीं होते। क्योंकि वे जीवात्मा के आनन्द को मुक्ति के निमित्त से स्वीकार करते हैं।

रामानुज मतानुयायियों के उक्त मतके सन्दर्भ में हमें भी यह प्रतीत होता है कि उनके द्वारा स्वीकृत आत्मा की आनन्दरूपता दुःखाभाव—परक ही है। क्योंकि प्रायः सभी दार्शनिकों ने ऐसा स्वीकार किया प्रतीत होता है कि जीवात्मा सत् औड चित् है, जबकि परमात्मा सत्। चित् के साथ आनन्दमय भी है।

रामानुज के मत में सुख—दुःखादि अनुभूतियाँ ज्ञानावस्थाविशेष मानी गई हैं किन्तु दयानन्द ऐसा स्वीकार करते प्रतीत नहीं होते। उनके मतानुसार न्याय दर्शन की भांति ये आत्मा के लिंग हैं। अत-एव इन्हें आत्मा से अलग नहीं किया जा सकता।

यहां यह भी द्रष्टव्य है कि न्यायदर्शन में जीव के प्रयत्नेच्छादि एवं ज्ञान-रूप कर्मों को मोक्षावस्था में समाप्त माना गया है। किन्तु

महर्षि दयानन्द न्याय के यथार्थवादि दृष्टिकोण से और अधिक आगे बढ़ कर उक्त धर्मों को अर्थात् प्रयत्नेच्छाज्ञादि को मोक्षावस्था में भी निर्विघ्न मानते हैं। उनके अनुसार यदि जीवात्मा के प्रयत्नज्ञानादि धर्म समाप्त हो जायें या सांसारिक हों तो जीवात्मा को मुक्ति की अवस्था में अनन्त की उपलब्धि किस प्रकार होगी। अतः उनके मतानुसार प्रयत्नज्ञानादि आत्मा के स्वभाविक गुण या धर्म है: अनन्तर इतना है कि आत्मा के दुःखादिमूलक गुण देह से सम्बद्ध होने पर ही प्रकाशित होते हैं, क्योंकि देखा जाता है कि जब तक आत्मा का शरीर से सम्बन्ध होता है, तभी तक ये धर्म प्रतीत होते हैं। अतः इन धर्मों को शरीर के धर्म नहीं माना जा सकता, तस्मात् ये आत्मा के ही धर्म हैं।

दोनों ही दार्शनिक न्याय और अद्वैत दर्शन के द्वारा स्वीकृत जीवात्मा के विभुत्व को अस्वीकार करते हैं। दोनों का मत है कि–यदि जीवात्मा को विभु माना जायेगा तो उसकी उत्क्रमाणादि क्रियाएं सम्बन्ध नही हो सकतीं। रामानुज जीवात्मा को अणु मानते है और महर्षि दयानन्द परिच्छिन्न मानते हैं। दोनों में शब्द–भेद–मात्र है, अभिप्राय दोनों का एक ही है।

दोनों दार्शनिकों ने जीवात्मा को अध्यक्ष स्वीकार किया है; क्योंकि उसके स्वरूप का हम अन्य भौतिक पदार्थों की भांति नेत्रादि द्वारा दर्शन नहीं कर सकते। इच्छा, ज्ञान, सुख, दुःखादि भावों से जो उसके लिंग है, लिगलिंगापूर्वक अनुमान कर सकते हैं, दोनों ही दार्शनिक जीवात्मा को मानस ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं। दयानन्द के अनुसार सदसद् कार्यों के करते समय जहां हम ईश्वर का प्रत्यक्ष कर सकते हैं वहां हम विविकेच्छा द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष कर सकते हैं और इन्हीं लिंग विषयों के द्वारा हम आत्मा का अनुमान कर सकते हैं।

आचार्य रामानुज आत्मा को नित्य रूप से परमात्मा का विशेषण होने के कारण उसके द्वारा नियाम्य और धार्य मानते हैं। जिस प्रकार एक विशेषण अपने विशेष्य से पृथक होकर भी पृथक्

नहीं है, उसी प्रकार विशेषण–भूत जीवात्मा अपने विशेष्यभूत परमात्मा और जीवात्मा के इस नित्य सम्बन्ध के कारण ही जीवात्मा परमात्मा के द्वारा नियाम्य और धार्य है। परमात्मा प्रतिफल जीवात्मा को सब कर्मों के प्रति प्रेरित करता है। जैसा कि पहले कहा गया है, दयानन्द जीवात्मा और परमात्मा में किसी ऐसे नित्य सम्बन्ध या आश्रय-आश्रित सम्बन्ध को मान्यता नहीं देते जो सदैव उसको कर्तृत्व के क्षेत्र में नियामित करता रहे। उनके मतानुसार जीवात्मा और परमात्मा में प्रजा-राजा की भांति या स्वामी-सेवक की भांति सम्बन्ध है। इसी को उन्होंने व्याप्य-सम्बन्ध भी कहा है रामानुज के द्वारा स्वीकृत जीवात्मा और परमा मा के मध्य नियाम्य नियामक, धार्य-धारकादि सम्बन्धों को न स्वीकार कर पाने का कारण दयानन्द का विशुद्ध यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रतीत होता है। क्योंकि यदि जीवात्मा को नित्य रूप से परमात्मा का वंश मान कर उसके द्वारा नियाम्य या धार्य माना जाय तो जीव के(पृथक् अस्तित्व का कोई तात्पर्य रह जाता प्रतीत नहीं होता। इसलिए महर्षि दयानन्द जीवात्मा और परमात्मा के मध्य किसी विशेषण–विशेष्य या सदृश सम्बन्ध की कल्पना करते भी दिखाई नहीं देते।

आचार्य रामानुज के मतानुसार जीवात्मा को तीन रूप या भेदों में परिकल्पित किया गया है। – जड़, मुक्त और नित्यमुक्त। रामानुजीय मत का यह अनुसार जीवात्मा सम्बन्धी वर्गीकरण महर्षि दयानन्द को स्वीकार्य नहीं हैं, उनके अनुसार जीवात्मा न तो स्वभावेन बद्ध है और न मुक्त ही। अतः उन्हें ऐसे वर्गीकरण की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। क्योंकि यदि जीवात्मा को नित्य रूप से मुक्त माना जाये तो हैं। अतः जीवात्माओं का, उनके मतानुसार ऐसा नित्यात्मक कोई वर्गीकरण किया जाना कोइ तर्कसंगति प्रतीत नहीं होता।

दोनों दार्शनिको ने अद्वैतमत में जीववाद का खण्डन किया है। अद्वैतवादी वेदान्तियों के इस कथन का ब्रह्म और जीव परमार्थतः अभिन्न हैं–दोनों ने प्रबल रूप से खण्डव किया है। रामानुजाचार्य

के तत्सन्दर्भ में प्राप्त भेद-कल्पना, स्वरूप-स्थित आदि आदि विषयक अनेक अनौचित्यों को दिखाते हुए कहा है कि यदि अल्पज्ञात्वादि गुणों वाले जीव को अविद्यासंवलित अन्त:करणावच्छिन्न ब्रह्म है। माना जायेगा तो ब्रह्म में भी अज्ञान का अपरिहार्य आक्षेप होगा महर्षि दयानन्द यद्यपि उने गाम्भीर्य के साथ शंकर के मत खण्डन करते प्रतीत नहीं होते, कि—रामानुज। तथापि महर्षि दयानन्द ने सहज बुद्धिग्राह्य दोषों का विशद् रूप से खण्डन किया है। उक्त सन्दर्भ में उनका भी मन्तव्य है कि यदि ब्रह्म को भी सत्ता स्वीकार रखनी होगी।

यद्यपि आचार्य रामानुज ब्रह्म और जीव का अपृथक सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, यद्यपि दोनों दार्शनिकों के अनुसार अर्थात् महर्षि दयानन्द और आचार्य रामानुज के मत में ब्रह्म में या जीव में किस प्रकार की अविद्या का अज्ञान को ऐसी सत्ता पुष्ट नहीं होती जो ब्रह्मैक्यवाद का परिपोषण करती हो।

दोनों दार्शनिकों ने प्रतिबिम्बवाद की अनुपपत्तियों का भी निर्देश किया है।

दोनों दार्शनिक अद्वैत मत के इस सिद्धान्त का भी खण्डन करते हैं कि जिसमें जीवों की अभिन्नता अर्थात् जीवएक्यवाद स्वीकार किया गया है दोनों हो विद्वान् दार्शनिक सुख, दु:खादि संवेदनात्मक भिन्न भिन्न अनुभूतियों को जीवों की पारस्परिक अभियन्ता के निराकरण हेतु प्रस्तुत करते हैं। दोनों का मन्तव्य है कि यदि समस्त जीव एक ही है तो इसप्रकार का सुख दु:खाहि विषय और ज्ञानी अज्ञान विषयक विभिन्न रूपता उसमें क्यों दृष्टिगोचर होती है? यहां यह ज्ञातव्य है कि आचार्य रामानुज और दयानन्द जीवात्माओं को स्वरूपत: समान मानते हैं किन्तु गणनात्मक दृष्टि से बहुत्व मानते हैं।

अद्वैतवादियों के विपरीत दोनों ने ज्ञातृत्व एवं भोक्तृत्व को जीवात्मा के स्वाभाविक धर्म माने हैं।



प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान प्रकाशन हेतु दानी महानुभावों के नामों की सूची एवं चित्रावली:—

क्रम संख्या	नाम दानी	रु० पै०
१.	श्रीमती प्रमिला जही मार्ग, हैदराबाद	१५००—००
२.	श्रीमती सावित्री शर्मा वानप्रस्थाश्रम	१०००—००
३.	श्री वाई० जी० पटेल शान्ता क्रुज बम्बई	१०००—००
४.	श्रीमती सन्तोष रंगन [महिला मन्त्री आर्य केन्द्रीय परिषद्] पत्नी श्री ज्ञान चन्द रंगन	५००—००
५.	श्री तारा चन्द वधवा वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर	५००—००
६.	श्रीमती प्रेमवती दरगन ,, ,, ,,	५००—००
७.	श्री सत्यपाल सुधाकर सुपुत्र श्री भूदेव वानप्रस्थ १८ डी० कमला नगर दिल्ली	५००—००
८.	श्री जियालाल शर्मा वानप्रस्थाश्रम 'कानपुर वाले'	५००—००
९.	श्री महात्मा आर्यभिक्षु अध्यक्ष वानप्रस्थाश्रम	२५०—००
१०.	कविराज योगेन्द्रपाल शास्त्री 'मस्तिष्क-हृदय रोग विशेषज्ञ' मु० कन्या गुरुकुल संचालक शक्ति आश्रम एवं अध्यक्ष आर्य केन्द्रीय परिषद् हरिद्वार	२५१—००
११.	श्री मक्खनलाल नागपाल अम्बाला छावनी	२००—००
१२.	श्रीमती कुन्तीदेवी चान्दपुर स्याऊं 'वानप्रस्थाश्रम'	१०१—००
१३.	ब्र० विमला कुमारी 'वानप्रस्थाश्रम'	१०१—००
१४.	श्रीमती माता तेजकौर ,, ,, ,,	१०१—००
१५.	श्री गणेशमुनि प्रधान वानप्रस्थाश्रम 'राजदूत मार्ग चाणक्यपुरी नई दिल्ली'	१०१—००
१६.	चाननलाल सलूजा एवं श्रीमती शान्ति देवी, वा०प्र०	१०१—००
१७.	श्री कृष्णमुनि वैद्य तारावती सेवासदन ,, ,,	१००—००
१८.	श्री माधोप्रसाद सिंह वानप्रस्थाश्रम	१००—००
१९.	श्री देशकुमार सुपुत्र देवनदास लकड़ी मर्चेन्टस हरि०	१००—००

क्रम संख्या	नाम दानी	रु० पै०
२०.	श्री डॉ० हरदेव मेहता वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर	१००—००
२१.	श्रीमती शुभकरी ,, ,, ,,	१००—००
२२.	श्रीमती भगवान देवी जायले डिफेन्स कालौनी नई दिल्ली	१००—००
२३.	श्रीमती शन्नोदेवी आर्यसमाज कटरा इलाहाबाद	१००—००
२४.	श्रीमती लक्ष्मी वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर	१००—००
२५.	श्री हंसराज सोनी २।६० वानप्रस्थाश्रम	५१—००
२६.	श्री रोशनलाल १४।६३ पंजाबी बाग दिल्ली	५०—००
२७.	मिस. आर. कुमारी पोस्टल एजुवेली लिंगा टोका फिजी	५१—००
२८.	श्रीमती सत्यव्रता वानप्रस्थाश्रम शाखा—२	५०—००
२९.	श्रीमती विद्यावती 'अमृतसर' वानप्रस्थाश्रम	२५—००
३०.	श्रीमती रानी कपूर ,, ,, ,,	२५—००
३१.	माता भागवन्ती देवी अध्यक्ष व्यास आश्रम सप्त सरोवर 'हरिद्वार'	१००—००
३२.	श्री सुखलाल आर्यपुरा सब्जी मण्डी दिल्ली	२५—००
३३.	श्रीमती किशोरी देवी स्वरूपनगर कानपुर	५०—००
३४.	पं० ऋषिराम एडवोकेट 'वानप्रस्थाश्रम' एटा वाले	५०—००
३५.	श्री रघुनाथ सहाय 'मेरठ वाले'	५०—००

विशेषः—इन उक्त समस्त दानदाताओं का प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान हरिद्वार उ.प्र.की ओर से बहुत बहुत धन्यवाद है। आशा है ये महानुभाव अपनी पवित्र भावना तथा धन से इस प्रतिष्ठान की सदैव सहायता करते रहेंगे।

जयदेव वेदालंकार
निदेशक— प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान
हरिद्वार।

दानदाताओं के चित्र—



श्रीमती सन्तोष रंगन पत्नी—श्री ज्ञानचन्द रंगन

दोनों पति-पत्नी आर्यसमाज के मिशनरी हैं। श्रीमती संतोष रंगन आर्य केन्द्रीय परिषद् हरिद्वार की महिला मन्त्री हैं। आपके कोकिला कण्ठ से निसृत संगीत एवं भजन आर्य जगत् में विशेष रुचि से सुने जाते हैं। समस्त श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देते हैं। श्री ज्ञानचन्द रंगन अनेक आर्य समाजों के प्रधान और मंत्री रहे हैं, इस समय आर्य समाज हरिद्वार के संरक्षक हैं।



श्रीमती प्रेमवती दरगन

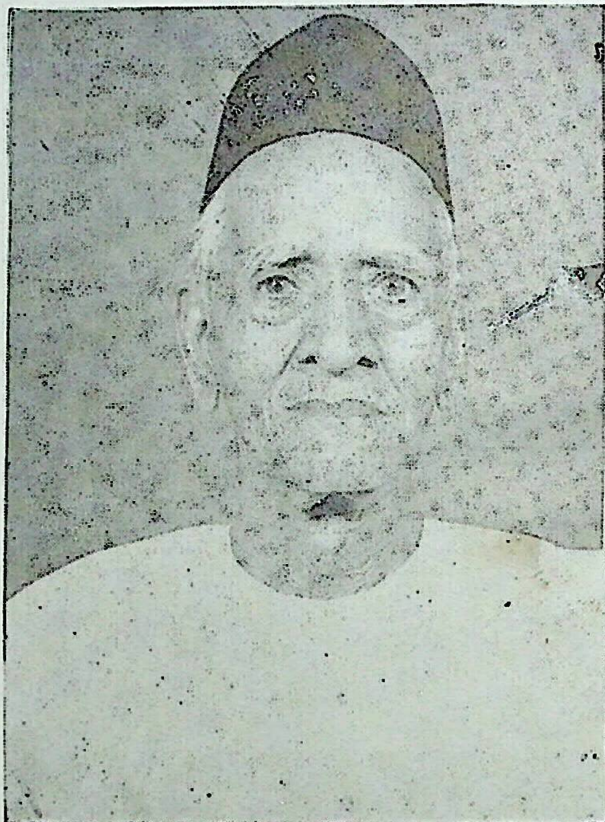
आप योरोप के अनेक देशों में गई हैं। अनेक संस्थाओं को अपने पवित्र दान से सहयोग करती हैं। विशेष सादगी पसन्द हैं। आप के स्वर्गीय पति श्री केशवचन्द्र जी भाखड़ा परियोजना में इन्जीनियर थे, वे इङ्गलैण्ड में हवाई जहाज कम्पनी में कार्यरत रहे। एक सच्चे आर्य इमानदार व्यक्ति थे।

वे नंगल आर्यसमाज के प्रधान रहे।



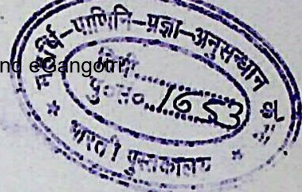
श्रीमती प्रमिला जी (जही मार्ग हैदराबाद)

आप पूज्यपाद स्व० आनन्द स्वामी जी महाराज की शिष्या हैं।
योग और ध्यान में विशेष रुचि है।
आप की वैदिक संस्कृति के प्रति अत्यधिक गहरी आस्था है। आप सहिष्णु और मननशील महिला हैं। आप के दो पुत्र और एक पुत्री श्रीमती प्रतिमा अमेरिका में हैं।



श्री ताराचन्द बघवा

आप अत्यन्त श्रद्धालु एवं निष्ठावान भक्त हैं। अपने जीवन में अनेक वेद पारायण यज्ञ करा चुके हैं।

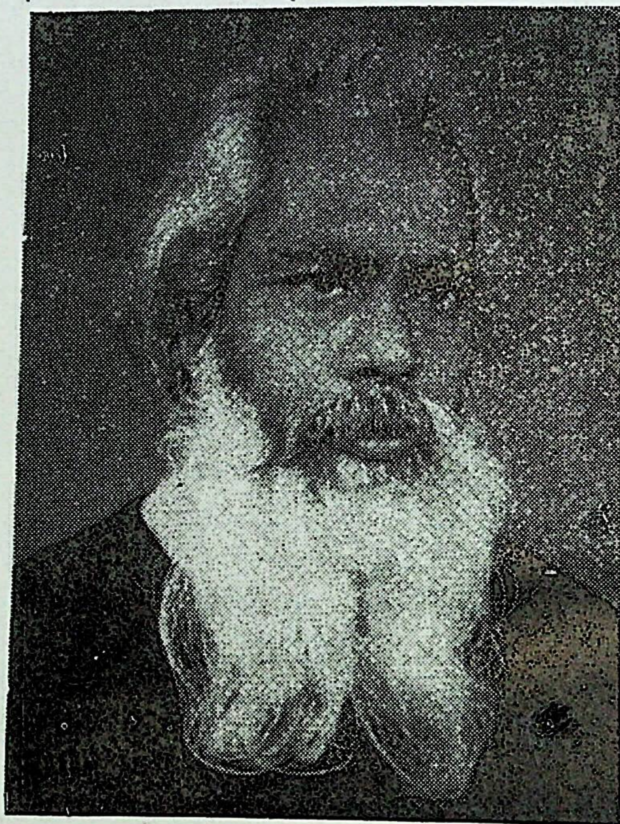




कविराज योगेन्द्रपाल शास्त्री

आप अनेक संस्थाओं के उच्च पदों को सुशोभित कर रहे हैं। एक ओजस्वी वक्ता हैं। कन्या गुरुकुल कनखल के मुख्याधिष्टाता, शक्ति आश्रम के संचालक और आर्य केन्द्रीय परिषद् हरिद्वार के अध्यक्ष हैं। हृदय और मस्तिष्क सम्बन्धी रोगों के विशेप विशेषज्ञ हैं।

समस्त भारत के शहरों से रोगी आते हैं। आप उपचार शुद्ध आयुर्वेदिक पद्धति से करते हैं।

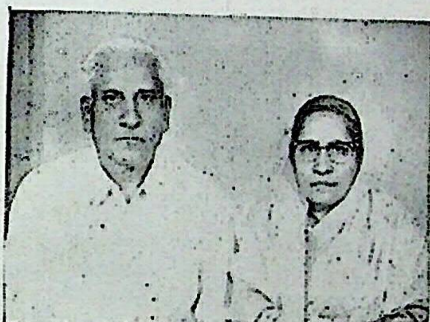


महात्मा आर्यभिक्षु जी

आप वैदिक सत्य सनातन धर्म के ओजस्वी वक्ता हैं। आर्य वानप्रस्थाश्रम के प्रधान एवं आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के मन्त्री रहे हैं। इस समय गुरुकुल अयोध्या के कुलपति हैं। समस्त भारत में आपके गम्भीर एवं दार्शनिक विवेचना पूर्ण भाषणों को विशेष रुचि और श्रद्धा से सुना जाता है।

आपकी पत्नी श्रीमती लीलावती एक कर्त्तव्य परायण और धार्मिक महिला हैं।





श्री पं० जियालाल शर्मा एवं पत्नी श्रीमती लीलावती

श्री शर्मा जो एक कानपुर के उद्योगपति हैं। आप भारतीय संस्कृति के कट्टर समर्थक और रक्षक हैं। दान देना आप का स्वभाव है। श्रीमती लीलावती धर्मपरायण निष्ठावान महिला हैं।





श्री प्रीतम चन्द गुप्त
(भूदेववानप्रस्थ)
एक कर्मनिष्ठ सत्यनिष्ठ आर्यसमाज
के मननशील कार्यकर्त्ता हैं।
आर्यसमाज के कार्यों में
विशेष रुचि रखते
हैं। अनेक
आर्यसमाजों के अनेक पदों पर
कार्य करते रहे हैं।



श्री डा० हरदेव मेहता
आप आर्यसमाज के लग्नशील
कार्यकर्त्ता हैं। सेना में
मेजर पद पर
कार्य कर चुके
हैं।


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी.................
पु०सं०..16538
भारती पुस्तकालय

लेखक का परिचय

जन्म-स्थान : झड़ौदा-कलां, दिल्ली — ४३। जन्म-तिथि : ५ दिसम्बर १९४१ ई०। शिक्षा — सिद्धांतभूषण : उपदेशक विद्यालय यमुनानगर से। वेदालंकार एवं एम. ए. (दर्शन मनोविज्ञान) : गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से। पी-एच. डी. : मेरठ विश्वविद्यालय से। प्रभाकर और साहित्यरत्न : क्रमशः पंजाब विश्वविद्यालय एवं हिन्दी सम्मेलन प्रयाग। दर्शनाचार्य : श्री कामेश्वरसिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा।

डॉ० जयदेव वेदालङ्कार

सामाजिक-कार्य—सन् १९६३ में रिलीफ सोसाइटी का अध्यक्ष (बंगाल)। गौ रक्षा आन्दोलन १९६७ में एक मास का कारावास (तिहाड़ जेल दिल्ली)।

संयोजक—त्रैतवादीय आर्य पीठ ज्वालापुर, मंत्री — प्राध्यापक संघ, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, सदस्य—सिण्डीकेट गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय। निदेशक—प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान, ९ आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर (हरिद्वार)।

कृतियां (पुस्तकें एवं लेख) :

१. वैदिक साहित्य में गोरक्षा या गोहत्या ?
२. महर्षि दयानन्द की विश्वदर्शन को देन—१५० पृष्ठ
३. वैदिक वाङ्मय में शिक्षा का स्वरूप
४. गीता और कान्ट (आचार शास्त्र)।

शीघ्र प्रकाशित होने वाले शोध ग्रन्थ :

१. वैदिक दर्शन
२. उपनिषदों का तत्त्वज्ञान, भाग—२
३. भारतीय दर्शन का इतिहास (तीन भागों में)
४. वैदिक योग मार्ग
५. भारतीय संस्कृति—एक समीक्षात्मक अध्ययन
६. वैदिक अध्यात्म-सुधा

उद्देश्य

१. वेद, उपनिषद्, दर्शन-शास्त्र, प्राचीन इतिहास और अन्य पुरातन साहित्य (सूत्र साहित्य, आयुर्वेद एवं संस्कृत साहित्य) पर शोध पूर्वक साहित्य प्रकाशित करना।
२. उक्त शोध विषयों के लिये समय-समय पर गोष्ठियों का आयोजन करना।
३. भारतीय विश्वविद्यालयों के शोध छात्रों को उक्त विषयों पर शोध करने में मार्ग दर्शन कराना।
४. उपर्युक्त शोध विषयों के लिये पुस्तकालय स्थापित करना।
५. आधुनिक युग में विज्ञान और आध्यात्मिकता में समन्वय स्थापित करना।
६. आकाशवाणी और दूरदर्शन पर उक्त विषयों पर वार्ता प्रसारित करना।
७. उपर्युक्त प्राच्य विषयों का भारतीय विश्वविद्यालयों में पठन-पाठन एवं शोध का समुचित प्रबन्ध करना।
८. संतुलित व्यक्तित्व के विकास हेतु योग की उपयोगिता से परिचित कराना।
९. विदेशी पर्यटकों को भारतीय संस्कृति से अवगत कराने के साधन उपस्थित कराना।
१०. अन्य विषय एवं योजनायें जिन्हें नियमानुसार परामर्शदातृ सभा सुझाये और स्वीकृत किये जायें।

इस शोध प्रतिष्ठान का मुख्य उद्देश्य यह है कि सामान्य लोगों की रुचि प्राचीन साहित्य (वैदिक-साहित्य) एवं दर्शनादि के प्रति करायी जाये। इस प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान के द्वारा पर्वतराज हिमालय की उपत्यका में अधिष्ठित तथा पावन भागीरथी के पुनीत तट पर बसे इस जनपद की इस महती आवश्यकता को पूरा किया जायेगा।

अतः धनी-मानी एवं समस्त वैदिक संस्कृति के प्रति आस्था रखने वाले महानुभावों से निवेदन है कि इस उक्त शोध प्रतिष्ठान में अपनी स्थिर निधि जमा करा कर तथा दान दे कर सहयोग प्रदान करने की कृपा करें। हमारे किसी भी शोध ग्रन्थ के छपवाने पर दानी महोदय ९६ प्रतिशत आय कर से मुक्त हो सकेंगे।

निर्देशक—

प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान, हरिद्वार